हिंदू-मुसलिम समस्या

लेखक
डाक्टर बेनीप्रसाद
अध्यापक, राजनीतिशास्त्र, प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

अपनी बात

भारतवर्ष की प्रधान—कह सकते है एकमात्र—समस्या है हिन्दू-मुसलमानो की। भारत के स्वराज्य, शान्ति तथा भावी उन्नति के मार्ग मे सब से बड़ी बाधा हिन्दू-मुसलमानो का झगड़ा है। इस बाधा को दूर करना प्रत्येक भारतवासी चाहता है, परन्तु अब तक इसका कोई कारगर उपाय न निकल सका। डा० बेनीप्रसाद ने दोनो के झगड़े के मूल कारणो पर बड़ी कुशलता से आधुनिक राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक सिद्धातो के आधार पर निष्पक्ष होकर प्रकाश डाला है। उसके पश्चात् समस्या का सुलझाव जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक तथ्यो एवं संसार के विभिन्न राजनीतिक प्रयोगो के आधार पर किया है वह बड़ा तर्कपूर्ण तथा सर्वग्राही है। इस विषय की ऐसी सर्वांगीण मनोवैज्ञानिक व्याख्या और किसी पुस्तक मे नही है। इस कारण इसको हिन्दी पाठको के सामने रखते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

साहित्य भवन लि०, प्रयाग। — पुरुषोत्तमदास टंडन, मंत्री

भूमिका

इस पुस्तक मे देश की विकट समस्या का विश्लेषण किया गया है और उसे सुलझाने के उपायो का दिग्दर्शन कराया गया है। इतिहास, मनोविज्ञान, सामाजिक और राजनीतिक संगठन की दृष्टि से सब प्रश्नो पर विचार किया गया है। इसलिए इस पुस्तक में पाठको को संस्कृति और राजनीति इत्यादि के बारे मे भी विचार-धाराएँ मिलेगी।

अँगरेज़ी में यह पुस्तक १६४१ ई० में पहली बार प्रकाशित हुई थी। दूसरा सस्करण मिनर्वा बुकशाप, अनारकली, लाहौर से १६४३ ई० मे प्रकाशित हुआ है। इस समय हिंदी और उर्दू के सस्करण भी प्रकाशित हो रहे हैं।

इस हिंदी संस्करण मे हिंदू-मुसलिम प्रश्नो से सम्बन्ध रखने वाली आज तक की राजनीतिक घटनाओ का उल्लेख कर दिया गया है। पुस्तक की भाषा सरल है और आशा है कि पाठको को विषय सुगम्य होगा।

राजनीति विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
२९-११-४३

बेनीप्रसाद

विषय-सूची

प्रथम खंड—निदान

पहला अध्याय—इतिहास और मनोविज्ञान पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

दूसरा अध्याय—लोकतंत्र और साम्प्रदायिकता

तीसरा अध्याय—राजनीति और शासन-शक्ति

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पाँचवाँ अध्याय—सांस्कृतिक सामंजस्य

छठा अध्याय—राजनीतिक समझौता

पृष्ठ-संख्या

परिशिष्ट

प्रथम खंड

निदान

पहला अध्याय

इतिहास और मनोविज्ञान

सामाजिक जीवन

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने जीवन को समाज मे अर्थात् अन्य मनुष्यो के बीच रह कर ही सार्थक कर सकता है। परन्तु उसके स्वभाव मे जो सामाजिकता है, वह केवल इतनी है कि वह अपने आस-पास के लोगो के साथ, जिनके वह निकट सम्पर्क मे आता है, मिल-जुल कर रह सके। इससे बड़े समाज या मानव समुदाय के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करना वह पीढियो के अनुभव से सीखता रहा है। समाज के जिन अंगों के साथ मनुष्य का अपना निजी सम्पर्क नही होता, उनकी ओर उसकी कर्तव्य की भावना सदा यथेष्ट मात्रा मे सजग नहीं रही है। इसी कारण मानव समाज विभिन्न समुदायों मे बॅटा रहा है जिनके बीच न्यूनाधिक मात्रा मे सहयोग भी रहा है और संघर्ष भी, एकीकरण की क्रिया भी कार्य करती रही है और पृथक्करण की भी, कोई शासक भी बना है और कोई शासित भी। इतिहास इनकी कहानियों से भरा पड़ा है। मनुष्य की सामाजिक चेतना की प्रबलता और गहराई समाज के व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी आर्थिक आवश्यकताओं, उनके शान्ति तथा सुव्यवस्था के प्रबन्ध और युद्ध की आशंका, आदि, अनेक बातो पर अवलम्बित रही है। इसी सामाजिक चेतना के फल-स्वरूप रीति-रिवाज, धर्म तथा सदाचार के नियम, क़ानून, सामाजिक और राजनीतिक संगठन, आदि का विकास होता है। परिस्थिति तथा वातावरण मे, विशेषकर मनुष्य के विचारो मे, होने वाले परिवर्तनो

प्राचीन समय में कुछ देशों में, विशेषकर हमारे देश भारत में, समाज के इस वर्गीकरण में इस नियम से और भी दृढता ला दी गई कि विवाह-सम्बन्ध अपने वर्ग के अन्दर ही होना चाहिए। भारत का जन-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चार वर्णों के अतिरिक्त अनेक जाति पाँतियों में विभाजित रहा है जिनका मुख्य आधार यही है कि उनके बीच विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता। कौन लोग कहाँ के रहने वाले हैं, क्या काम करते हैं, आदि बातें भी इस जाति-पाँति के पृथक्करण में सहायक रही हैं। पास-पास रहने वाले समुदायों का कालान्तर में घुल-मिल कर एक हो जाना बड़ी स्वाभाविक सी बात है। इसलिए विवाह-सम्बन्ध की रुकावट वाले नियम का कड़ाई के साथ पालन करना आवश्यक हुआ। उसकी सहायता के लिए और नियम भी बने, जैसे यह कि खाना-पीना भी अपनी जाति-पाँति वालों के साथ ही होना चाहिए। बिरादरी के नियमों का पालन करने में जरा सी भी त्रुटि होने पर जाति से बाहर कर देने का भी नियम चला। जाति-पाँति की प्रथा मनुष्य के उन सकीर्ण दृष्टिकोण तथा उन सकुचित

विचारो का परिणाम है जो सामाजिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे स्वाभाविक ही थे। समयान्तर मे उसमे अनेक उलट-फेर हो गये हैं। उदाहरणतः किस बिरादरी के लोगो को क्या काम करना चाहिए, इस सम्बन्ध के नियम बिलकुल ढीले पड़ गये हैं। परंतु किस का विवाह-सम्बन्ध किसके साथ हो सकता है, यह नियम आज भी चल रहा है और इस दृष्टि से समाज कोई दो हज़ार बिरादरियो में बॅटा हुआ है।

जाति और समाज-संगठन

जाति-पाँति जैसी सस्थाओ का मनुष्य के सामाजिक दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। मनुष्य को जीवन के संघर्ष में अपनी रक्षा के लिए पारस्परिक सहानुभूति तथा सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। दो आदमियो का एक क़ौम का न होना उनके बीच सहानुभूति के विकास मे बाधक होता है। जाति-पाँति का भेद वर्ग-भेद से भी बड़ी वाधा है। इससे सामाजिक चेतना के विकास में रुकावट पड़ती है। इसके कारण इस भावना का कि मनुष्य-मनुष्य सब एक जाति के हैं—जो प्रोफेसर गिडिंग्ज़ के अनुसार समाज का मूलाधार है—समुचित विकास नही हो पाता। विभिन्न सम्प्रदायो की भाँति विभिन्न जाति-पाँतियो का अस्तित्व भी लोकमत को यथेष्ट बल प्राप्त करने से रोकता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसी लिए वह समाज की दृष्टि मे भला बन कर रहना चाहता है। हर एक आदमी अपने समुदाय के साथ-साथ चलना चाहता है, उसके विरुद्ध नही, और जाति-पाँति तथा सम्प्रदाय उसकी समुदाय की भावना को सीमित कर देते हैं। जाति-पाँति के बन्धनो के कारण हिन्दू समाज उस एकता तथा एकमार्गता को प्राप्त नही कर सका है जो ब्रिटेन, फ़ान्स आदि यूरोपीय देशों के निवासियो ने आधुनिक युग मे प्राप्त कर ली है।

भारतीय समाज में वर्ग-भेद

जब जाति-पाँति की प्रथा स्थापित हो गई तो धन-सम्पत्ति तथा शिक्षा के आधार पर जातियों के भीतर भी वर्ग बन गये। एक जाति अथवा उप-जाति के किसी वर्ग के लोग अन्य जातियों अथवा उपजातियों के अपने जैसे वर्गों के लोगों के साथ विवाह-सम्बन्ध तो नहीं जोड़ सकते, परन्तु जीवन की दूसरी बहुतेरी बातों में तो मिल-जुल कर कार्य कर सकते थे। इससे उनके संग दायरे का कुछ विस्तार भी हुआ और समाज-संगठन में भी कुछ सहायता मिली।

ग्राम संगठन

गाँवों में संगठन की प्रवृत्तियों को और भी अधिक अवसर मिला। क्योंकि उस समय पहले तक यात्रा करने और माल भेजने या मँगाने की सुविधाओं की कमी थी। इसलिए गाँवों को, जहाँ तक सम्भव हो, अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी कर लेने योग्य बनना जरूरी था। पास-पड़ोस के लोगों की ओर सहानुभूति तथा सहायता की स्वाभाविक भावना के साथ, मिल कर अपनी रक्षा का प्रबन्ध करने की आवश्यकता भी मौजूद थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जाति-पाँति तथा वर्ग-भेद के रहते हुए भी गाँवों के लोगों में एकता की भावना का विकास हुआ। इस एकता में कुछ कमियाँ भी थीं और बाहरी कठिनाइयाँ भी आती रहती थीं, फिर भी ग्राम-निवासियों के बीच कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी एक उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हो गया था।

इसके फल-स्वरूप लोगो का अपने निवास-स्थान से बाहर के लोगो के साथ भी सम्बन्ध जुड़ता था और उन्हे उनकी भी बात सोचनी पड़ती थी। उनका छोटा सा ससार कुछ बड़ा होकर उनके दृष्टिकोण का विस्तार होता था। जिन लोगो के हिताहित एक नही होते थे, उनके बीच भी एक काम-चलाऊ सामजस्य स्थापित हो जाता था।

धार्मिक उदारता

कुछ अपवाद तो सभी नियमो के होते हैं, परन्तु मोटे तौर पर यह बात ठीक है कि प्राचीन भारत मे लोगो को धर्म सम्बन्धी बातों पर विचार करने और विचारो का आदान-प्रदान करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। इसके फल-स्वरूप जनता मे अनेक प्रकार के दार्शनिक विचार प्रचलित थे और उसके धार्मिक विश्वासो तथा विधि-विधान मे भी विभिन्नता थी। परन्तु राज्य किसी एक मत विशेष का पक्ष लेकर अन्य मतो के अनुयायियो के साथ किसी प्रकार की कड़ाई नही करता था। सब को अपने-अपने मत के नियमो का पालन करने तथा उनके अनुकूल आचरण करने की स्वतन्त्रता रहती थी।

सामाजिक व्यवहार

धर्म सम्बन्धी उदारता भारतीय इतिहास की एक भारी विशेषता रही है। सामाजिक रीति-रिवाज के सम्बन्ध मे भी राज्य हस्तक्षेप नही करता था, हाँ, लोगो पर जाति तथा प्राचीनता-प्रेम का दबाव ज़रूर पड़ता था। प्रत्येक जाति, उप-जाति, समुदाय तथा स्थान के लोगो को स्वतन्त्रता थी कि वे अपने रीति-रिवाज का पालन करे। सब लोग एक ही रीति-रिवाज को मानने के लिए बाध्य नही किये जाते थे। इतना ही नही, मनु आदि स्मृतिकार तथा अधिकारीगण विभिन्न समुदायो के विभिन्न रीति-रिवाज को सरकारी कानून जैसा महत्व देने को तैयार रहते थे। हाँ, यह

अनेक सम्प्रदायों में से किसी न किसी से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। भारतीयों को इतिहास का लेखा रखने की आदत बहुत कम थी, और इसलिए नये आने वालों के साथ होने वाले युद्ध की, उनकी जय-पराजय की, बात भी चंद पीढ़ियों के अंदर एक विस्मृत घटना हो जाती थी। समयान्तर में उनका विदेशी होना ही एक भूली हुई बात बन जाती थी, और वे वैसे ही हिन्दू हो जाते थे जैसे पहले वाले। ऐसी परिस्थिति में थोड़ा बहुत जातीय सम्मिश्रण भी अनिवार्य ही था। स्थान-परिवर्तन करने वालों का कभी-कभी अपने नये निवास स्थान की किसी उप-जाति में प्रवेश हो जाता था। शिला-लेखों आदि में इस बात के प्रमाण मौजूद हैं। योद्धाओं और सरदारों को क्षत्रिय की संज्ञा प्रदान कर देने वाले ब्राह्मण भी मिल जाते थे।

मुसलमानों का आगमन

परंतु आठवीं शताब्दी में सिंध की ओर से और ग्यारहवीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों के रास्ते से आने वाले मुसलमानों की स्थिति इससे पहले आने वाले लोगों से भिन्न थी। इन्हें भी अपना अंग बना लेना हिंदू समाज के लिए एक दुष्कर कार्य था। ये मुसलमान विजेता, व्यापारी तथा प्रवासी सभी रूपों में आये थे। जो विजेता के रूप में आये थे उनके कारण तेरहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में और चौदहवीं शताब्दी में दक्षिणी भारत में उनका राज्य स्थापित हो गया। इसलाम के अनुयायियों के पास अपना धर्म था और अपना दर्शन। हिंदू समाज के बहुदेववाद और इसलाम के एकेश्वरवाद में बड़ा अंतर था। मुसलमानों को दूसरे लोगों से अपना धर्म मनवा लेने की भी इच्छा थी, जिसकी बदौलत विजेता लोग बहुधा अपने आक्रमण को जिहाद अर्थात् धार्मिक युद्ध का रूप भी दे सकते थे। भारत में आने के पूर्व ही मुसलमानों का अरबी और फारसी साहित्य भी विकसित हो चुका था।

उन्होंने इतिहास लिखना भी सीख लिया था, और वे अपनी लडाइयों, लूट-मारों, मार-काटों और जीतों के लम्बे-लम्बे हालात दर्ज करते रहते थे। तीर्थ यात्रा, व्यापार, भ्रमण आदि के द्वारा वे मध्य पूर्व के देशों से अपना सम्पर्क बनाये रखते थे और अरब, ईराक और ईरान के नये विचारों और आन्दोलनों की लहरे यहाँ पहुँचती रहती थी। इन लोगों को अपने मे आत्मसात कर लेना हिन्दू समाज के लिए बड़ा कठिन था। हिन्दुओं मे तो जाति-पाँति थी ही, मुसलमानो मे भी ऐसा मज़हबी जोश था जिसके कारण वे दूसरो मे मिल नही सकते थे। यूरोप के स्पेन और बालकन प्रायद्वीप मे भी उन्होंने कई शताब्दियों तक शासन किया था, परंतु वहाँ भी उनका एक अलग समुदाय ही बना रहा।

हिन्दू-मुसलमान का आमना-सामना

इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में और चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण में हिन्दू और मुसलमान अपना-अपना धर्म और अपनी-अपनी संस्कृति लेकर एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े थे।

पारस्परिक प्रभाव

परन्तु विजय, लूट-मार और तोड़-फोड़ की पहली लहरों के समाप्त होते ही दोनों ओर से उन प्रवृत्तियों ने अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया जो मनुष्य के स्वभाव का अंग हैं और जो अनेकता को एकता तथा सम्पर्क को सहयोग में परिणत कर देने की चेष्टा करती हैं। कुछ ही समय बाद मुसलमान शासकों की सेनाओं में हिन्दू सरदार तथा सैनिक केवल मुसलमानों के ही नहीं हिन्दुओं के भी विरुद्ध युद्ध करते दिखाई पड़ने लगे। थोड़ा सा समय और बीतने पर हिन्दू राजाओं की सेनाओं में भी मुसलमान सरदार और सिपाही नज़र आने लगे। वाणिज्य और व्यवसाय के फल स्वरूप भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच नये-नये सम्बन्ध स्थापित होने लगे। कुछ सरकारी अधिकारियों और कुछ फ़क़ीरों के प्रभाव में लाखों हिन्दुओं ने इसलाम धर्म ग्रहण कर लिया, परन्तु धर्म बदल लेने का अर्थ यह नहीं होता कि लोगों के रीति-रिवाज, भाषा, विचार आदि सभी बदल जायँगे। इनमें से कुछ का बाहर से आये हुए मुसलमानों के साथ विवाह-सम्बन्ध भी जुड़ा। इसके सिवाय जो मुसलमान विदेशी होते हुए भी यहाँ बस गये उन पर इस देश के जल-वायु की भाँति ही इसके ज्ञान-विज्ञान और आर्थिक व्यवस्था का भी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ना लाज़मी था।

एक भाषा

भारतीय मुसलमानों ने भारतीय भाषाओं को ग्रहण कर लिया। साथ ही उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में वे फारसी और अरबी और

कर सकते हैं। इसके सिवाय और भी भाषाएँ थीं जैसे बँगला, मराठी, गुजराती और सिंधी। इनके साहित्य के विकास मे भी चौदहवी से अठारहवी या उन्नीसवी शताब्दी तक हिन्दुओ और मुसलमानो ने मिल-जुल कर काम किया। भारतीय साहित्य मे, चाहे वह हिन्दुओ का रचा हो और चाहे मुसलमानो का, भारतीय वातावरण की ऐसी झलक थी जो भारत से बाहर के किसी साहित्य मे नही हो सकती थी। मध्य युग के भारत की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उसके साहित्य मे भारतीयता—एक अपनापन—है। इसके सिवाय बहुत से हिन्दुओ ने फारसी और अरबी की और बहुत से मुसलमानो ने सस्कृत की जानकारी हासिल की। अनेक हिन्दुओ की फारसी रचनाएँ इतनी सुन्दर हैं कि वे आज तक जीवित हैं। ग्यारहवी सदी ही मे एक मुसलमान विद्वान्, अलबेरूनी, सस्कृत का पडित हो गया था और उसने हिन्दुओ के ज्ञान और विज्ञान की प्रशसा मे जो कुछ लिखा है वह स्थायी महत्व की वस्तु है। सोलहवी और सत्रहवी सदियो मे मुसलमान विद्वानो ने अथर्व वेद, उपनिषदो, योगवशिष्ठ, रामायण, महाभारत, भागवत, हरिवश तथा अन्य पुराणो का फारसी मे अनुवाद किया। चौदहवी और उन्नीसवी शताब्दियो के बीच भारत मे जो भी साहित्यिक कार्य हुआ उसमे या तो हिन्दुओ और मुसलमानो का सहयोग दिखाई देता है और या उनका एक दूसरे पर पड़ने वाला प्रभाव।

कला

कला के क्षेत्र मे उनका यह सहयोग और भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन भारत की इमारतो मे भारत और अरब की शिल्प-कलाओं का ऐसा सम्मिश्रण और सामजस्य दिखाई देता है जैसे दोनो मिल कर एक हो गई हो। इसीलिए उस युग की भारतीय शिल्प-कला मे दृढ़ता भी है और सुन्दरता भी। किसी देश की आत्मा के प्रकटीकरण का एक और माध्यम चित्रकला है। इस क्षेत्र मे भी सोलहवी शताब्दी

ही था। ज़मीदारो, किसानों, व्यापारियो, कारीगरो, मज़दूरो, सिपाहियो, सरकारी कर्मचारियो, आदि प्रत्येक वर्ग मे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही शामिल थे। एक वर्ग के लोगो के हिताहित का साम्य उनमें एक ऐसी एकता ला देता है जो कम से कम आर्थिक क्षेत्र मे उन्हे अपने ही धर्म के परंतु अन्य वर्गों के लोगो के मुक़ाबले मे एक बनाये रखती है। एक वर्ग के लोगो मे, चाहे वे हिन्दू हो और चाहे मुसलमान, पहनावे-उढावे, रहन-सहन, बातचीत और मिलने-जुलने के ढंग बहुत कुछ एक से थे। एक वर्ग के लोगो मे स्त्रियो की स्थिति, विवाह की उम्र, और विवाह सम्बन्धी कुछ रीति-रिवाज भी एक से थे। हिन्दुओ और मुसलमानो का एक दूसरे के उत्सवो मे शरीक होना भी स्वाभाविक ही था। इस सब के सिवाय एक बड़ी बात यह थी कि सदाचार और दुराचार विषयक बातो मे दोनो धर्मों के विधि-निषेध मे भी बड़ा साम्य था।

राजनीतिक सम्बन्ध

राजनीतिक क्षेत्र मे राजस्थान, बुन्देलखण्ड, कङ्कण तथा अनेक पहाड़ी प्रदेशो के हिन्दू राजे मुसलमान बादशाहो का आधिपत्य स्वीकार कर लेने पर भी आन्तरिक मामलो में स्वाधीन बने रहे, और कृष्णा नदी के दक्षिण के हिन्दू नरेशो ने तो सोलहवी शताब्दी तक अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की रक्षा की। परन्तु मुसलमानो के भारत मे आने का एक प्रभाव यह पड़ा कि केन्द्रीय शक्ति का बल बढ़ता रहा और सारा देश क्रमशः एक सम्राट के साम्राज्य का अग बनता गया। इसके फल-स्वरूप देश भर मे एक राजनीतिक प्रणाली की स्थापना होती रही। मुसलमान शासको ने पुराने हिन्दू नरेशो की शासन-प्रणाली का ढाँचा स्वीकार कर लिया। सोलहवी और सत्रहवी सदियो मे शेरशाह और मुग़ल बादशाहो ने जो शासन-सुधार किये, उनका आधार यही ढाँचा था। गाँवों की आन्तरिक व्यवस्था मे बहुत कम हस्तक्षेप किया गया।

जब तक वे अपने हिस्से की मालगुजारी ठीक से अदा करते रहे, तो सरकार उनसे नाहक छेड़छाड़ करना नहीं चाहती थी। हिन्दुओं की कुछ जातियाँ, जिनका काम मुख्यतः सरकारी नौकरी करना था, मुसलमान शासकों और उनकी हिन्दू प्रजा के बीच राजनीतिक शृंखला का कार्य करती थीं। मुसलमानों का राज्य में एक विशिष्ट स्थान था और बड़े-बड़े सरकारी ओहदे प्रायः उन्हीं को मिलते थे, परन्तु अकबर (१५५६–१६०५ ई०) और जहाँगीर (१६०५–१६२७ ई०) के शासन-काल में यह भेद-भाव कम हो गया। शाही घराने के शाहजादों के राजपूत राजकुमारियों के साथ विवाह होने लगे और धर्म के क्षेत्र में अपने-अपने धर्म को मान सकने की स्वतंत्रता की उदार नीति घोषित कर दी गई। देश में जो नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हो रही थी, उसके अनुकूल धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

धर्म और राजनीति

मुगलकाल की व्यवस्था में राष्ट्रीयता का बीज मौजूद था, परन्तु उसे भीतर और बाहर दोनों ओर से खतरा था। धर्म का भेद देश में वर्तमान तो था ही, और अवसर पाकर राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में फिर उग्र रूप धारण कर सकता था। मनुष्य के जीवन पर प्रभाव डालनेवाली शक्तियों में धर्म सब से अधिक शक्तिशाली है। वह अपने अनुयायियों को यह बताता है कि उसे समस्त संसार के प्रति क्या दृष्टिकोण रखना चाहिए। वह भले और बुरे, करने और न करने के सम्बन्ध में नियम घोषित करता है जिन पर उसके अनुयायियों की दृष्टि में दैवी आदेश की छाप लगी रहती है। वह मनुष्य की आत्मा पर अधिकार करके उसका पथप्रदर्शन करता है, उसे कष्ट में सान्त्वना प्रदान करता है और निराशाओं तथा संशयों से मुक्ति दिलाता है। उसका सम्बन्ध

मनुष्य की आत्मा में होने के कारण, वह उसके सभी कार्यक्षेत्रों का नियन्त्रण करने की चेष्टा कर सकता है। सभी धर्मों के सिद्धान्तों में मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना आधिपत्य स्थापित करने की सम्भावना सन्निहित रहती है। कोई धर्म अपने अनुयायियों पर किस सीमा तक अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है, यह इस बात पर निर्भर रहता है कि उसमें धार्मिकता और लौकिकता का कहाँ तक समन्वय हो पाया है या यों कहें कि उसके अनुयायी सांसारिक सफलता तथा आत्मिक कल्याण की कहाँ तक आशा कर सकते हैं। प्रत्येक धर्म के कुछ आधारभूत धर्म-ग्रन्थ होते हैं और अनुकूल अवसर प्राप्त होने पर उसके अधिकारी उसके अनुयायियों से इस बात का आग्रह कर सकते हैं कि वे जीवन की सभी बातों में, अपने सभी कार्यों में, उनकी आज्ञाओं का पालन करें। जहाँ एक से अधिक धर्म प्रचलित हों, वहाँ यह सम्भावना सर्वदा बनी रहती है कि वे सब बातों में अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों की दुहाई देना शुरू कर दें और इस प्रकार एक दूसरे के निकट आने के बजाय उनके बीच की खाई और बढ़ती चली जाय।

अठारहवीं शताब्दी

मुगल-कालीन व्यवस्था के राजनीतिक पहलू में भी यह कमज़ोरी थी कि एक बादशाह की इच्छा पर ही सब कुछ अवलम्बित रहने के कारण, एक ही व्यक्ति उसे भारी धक्का पहुँचा सकता था। शाहजहाँ (१६२७ १६५८ ई०) के शासनकाल में सरकारी नीति अकबर और जहाँगीर की धार्मिक स्वतन्त्रता की उदार नीति से ज़रा हटी और इसके बाद औरंगज़ेब (१६५८-१७०७ ई०), जो अपने ही धर्म को एक मात्र धर्म मानता था और उसका पूर्णतः पालन करना आवश्यक समझता था, इस बात पर उतारू हो गया कि देश का शासन सभी बातों में इस्लाम के नियमों के ही अनुसार हो। इसी समय मुगल साम्राज्य का

दक्षिण की ओर विस्तार होने का एक परिणाम यह हुआ कि दक्षिण के मुसलमानों के शासन में मराठों को अपने आन्तरिक मामलों में जो स्वाधीनता प्राप्त थी उसका भी अपहरण होने लगा। फलतः राजस्थान, महाराष्ट्र और पंजाब में होनेवाले विद्रोहों ने मुगल साम्राज्य को इतना शक्तिहीन बना दिया कि अब वह कहने भर को ही जीवित था। अगले सौ वर्षों में एक नई व्यवस्था का विकास हुआ। हाल के सबक को भुलाया नहीं गया। पाँच शताब्दियों के सहयोग के फल स्वरूप जिस हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का जन्म हुआ था उसकी रक्षा करके उसे और भी दृढ़ बनाने की कोशिश की गई। वह घोर परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी थी और अपनी उपयोगिता का प्रमाण दे चुकी थी। मुगल साम्राज्य के खँडहरों पर जो नये राज्य कायम हुए उनमें उनके नरेशों के खानदानों या सहधर्मियों का—कहीं राजपूतों, कहीं मराठों, कहीं सिक्खों, कहीं जाटों, और कहीं मुसलमानों का—एक विशिष्ट स्थान रहा, परन्तु किसी धर्म के अनुयायियों पर धर्म के क्षेत्र में जोर-जबरदस्ती करने के लिए राज्य की शक्ति का उपयोग नहीं किया गया। इसके सिवाय ऐसी बातें भी थीं जिनकी बदौलत एकता की भावना का बढ़ना स्वाभाविक था, जैसे वाणिज्य व्यवसाय, सड़कों, नदियों और समुद्र के रास्तों से होने वाला व्यापार, सांस्कृतिक सामंजस्य, और शासन-प्रणाली की एकरूपता। मुगल साम्राज्य (१५२६-१७०७ ई०) के उत्थान के समय इन सब की बड़ी उन्नति हुई थी और यह विचार फैल गया था कि भारत एक देश है। यह हालत थी जब कि अठारहवीं शताब्दी में देश के एक बड़े भाग में मराठा साम्राज्य स्थापित हो गया।

आधुनिक युग

परन्तु इस बीच भारत बाहर के राष्ट्रों की व्यापार तथा साम्राज्य सम्बन्धी प्रतिद्वन्द्विता के क्षेत्र में आ गया था। सौ वर्ष के अन्दर

(१७५७-१८५६ ई०) ब्रिटेन ने, ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा, भारत के अधिकतर भाग मे अपना शासन स्थापित कर लिया और बाक़ी राज्यो को अपने मातहत कर लिया। अब भारत के इतिहास में एक ऐसे युग का प्रारम्भ हुआ जो वास्तव मे नवीन था। विज्ञान की सहायता से सारा देश एक शासन-प्रणाली के सूत्र मे बाँध दिया गया। यूरोप मे तीन क्रान्तियाँ हुई थी—धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक—जिनके पूरा होने में तीन सौ वर्ष से अधिक समय लगा था। अब वे तीनो भारत मे एक साथ शुरू हो गई। और कब? जब कि वह अपनी राजनीतिक स्वाधीनता खो चुका था। पुरानी सामाजिक व्यवस्था की जड़े तक हिल गई और उसकी छाया मे जिस सस्कृति का विकास हुआ था वह भी डाँवाँडोल हो गई। देश के विभिन्न वर्ग आपस में जिस सूत्र से बँधे हुए थे, केन्द्रीय शक्ति के बदल जाने से वह भी तेज़ी से टूटने लगा। यूरोप की व्यावसायिक क्रान्ति के सम्पर्क के फल-स्वरूप यहाँ के घरेलू उद्योग-धन्धो को धक्का लगा और यहाँ की ग्रामीण व्यवस्था मे उथल-पुथल होने लगी। यूरोप के ज्ञान, विज्ञान और साहित्य के सम्पर्क के फल-स्वरूप यहाँ की संस्कृति मे परिवर्तन की क्रिया का प्रारम्भ होना अनिवार्य था। पश्चिम से नई विचार-धाराएँ आई और यहाँ भी नई विचार-धाराओ का उदय हुआ। गवर्नर-जनरल लार्ड विलिअम बेन्टिक (१८२७-१८३५ ई०) के शासन-काल में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार सरकारी नीति का अंग बन गया, जिससे इस मानसिक क्रान्ति की गति और भी बढ गई। अंग्रेज़ो के शासन-सम्बन्धी विचारो के फल-स्वरूप यहाँ की पुरानी शासन-प्रणाली की भी कायापलट हो गई। १८५७ मे ग़दर हुआ जो अगले साल तक दबा दिया गया। अब उन पुराने ख़ानदानो का भी ख़ातमा हो गया जिनकी ओर जनता को राजभक्ति की भावना थी। अब नये ढंग के राजनीतिक आदोलनो तथा संस्थाओ के लिए रास्ता साफ़ हो गया। बहुत समय से भारत का बाक़ी संसार के साथ सम्बन्ध

परिवर्तन

व्यक्ति को पुरानी आदतें छोड़कर नई आदतें डालने में, और समाज को पुरानी परम्पराएँ त्याग कर नई परम्पराएँ स्थापित करने में समय लगता है। सब बातों को नये दृष्टिकोण से देखने और अपने को तथा समाज को तदनुकूल बनाने के लिए पग-पग पर विवेक-बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता पड़ती है। रीति-रिवाजों और संस्थाओं की जड़ में मनुष्यों की भावनाएँ रहती हैं जिनके अनुसार वे किसी कार्य को भला या बुरा कहते हैं और कम या अधिक महत्त्व देते हैं। परिवर्तन के समय इन भावनाओं का बदलना आवश्यक हो जाता है, और यह मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़ी कठिन बात है। कठिन या पेचीदा परिस्थिति में केवल भावना मनुष्य का मार्ग-प्रदर्शन करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होती परन्तु उन्नति के लिए जिन परिवर्तनों की आवश्यकता होती है उनके लिए भावनाओं का समर्थन भी आवश्यक होता है। विवेक और भावना के इस संघर्ष के फलस्वरूप आगे बढ़ने में देर भी लगती है और गड़बड़ी भी पैदा होती है। आधुनिक युग में यह बात अनेक क्षेत्रों में अनेक रूपों में दिखाई पड़ रही है। जिस समय नये-नये सम्बन्ध स्थापित करने की जरूरत मौजूद रहती है उस समय जीवन पर स्थिरता के साथ और समष्टि रूप से विचार करना कठिन हो जाता है। पुराने सम्बन्धों

के अनेक पहलू समस्याओं के रूप में सामने आकर खड़े हो जाते हैं, बुझती हुई आग फिर से चमक उठती है, नये-नये विरोध उत्पन्न हो जाते हैं।

संसार और भारत

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सारा संसार आर्थिक दृष्टि से एक हुआ जा रहा था। भारत के लिए यह आवश्यक था कि वह किसी तरह संसार के साथ चलता हुआ बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे और कल-कारखाने क़ायम करके संसार की बढ़ती हुई सम्पत्ति में अपना हिस्सा बँटा सके। दूसरे, विज्ञान की उन्नति ने यात्रा और व्यापार के जिन शीघ्रगामी साधनों का निर्माण कर दिया था उनके कारण संसार से दूरी नष्ट हुई जा रही थी और दूर-दूर के देशों के बीच निकट का सम्पर्क स्थापित हो रहा था। जो लोग अब तक एक दूसरे से दूर रहे थे उनके निकट आ जाने के कारण कौम और जाति, स्वाधीनता और पराधीनता, साम्राज्यवाद और शोषण, आदि के नये नये प्रश्न उठ रहे थे। भारत को संसार के रंगमंच पर दृष्टि डाल कर उसमें अपने आत्म सम्मान के अनुकूल स्थान प्राप्त करना था। तीसरे, विभिन्न देशों का पारस्परिक सम्पर्क उनकी संस्कृतियों में एक नवीन सजीवता ला देता है। पश्चिम के सम्पर्क ने भारत में धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज और आर्थिक व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में विचार की नई लहरें पैदा कर दीं। भारत को इन नई बातों को इस प्रकार आत्मसात कर लेना था कि ये उसके अंग भी बन जायें और उसका अपना रूप भी बना रहे।

आधुनिकता और पुनरुत्थानवाद

भारत के सामने जो यह नया कार्य उपस्थित था, उसे सम्पन्न करने के लिए उसे जो बौद्धिक तथा नैतिक प्रयत्न करना पड़ा है, वह बड़ा पेचीदा

है। फिर भी उनमें दो प्रवृत्तियाँ कार्य करती हुई दिखाई पड़ती हैं, जो कभी साथ-साथ चलती हैं कभी एक दूसरे की सहायता करती हैं और कभी एक-दूसरे से टकराती भी हैं। वर्तमान हिन्दू-मुसलिम समस्या इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात का तथा उनके कारण होने वाली राजनीतिक प्रक्रिया का ही परिणाम है। सुविधा के लिए हम इन दो प्रवृत्तियों को आधुनिकता तथा पुनरुत्थानवाद कह सकते हैं।

पूर्व और पश्चिम

भारतीय संस्कृति में धार्मिक कथाओं, दार्शनिक विचारों, कल्पनापूर्ण काव्यों, कलापूर्ण परम्पराओं तथा सौंदर्यपूर्ण कृतियों का असाधारण भंडार था। भारतीय दर्शनों में, चाहे वे हिन्दू हों और चाहे मुसलिम, ज्ञान का अन्यतम उद्गम मनुष्य की अन्तरात्मा को माना गया था और इसलिए संसार के वातावरण की अपेक्षा अन्तरात्मा का महत्व अधिक था। पश्चिम के सम्पर्क के फलस्वरूप इस बात की आशा दिखाई दी कि भारत में जिस बात की कमी रही है उसकी पूर्ति हो जायगी, अर्थात् उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा लौकिक आचारशास्त्र की प्राप्ति हो जायगी। यह भी सम्भावना थी कि पूर्वीय और पश्चिमी सभ्यताओं के आदान प्रदान के फलस्वरूप एक नया समन्वय होकर संसार की उन्नति में उल्लेखनीय सहायता मिल सकेगी।

पश्चिम की दोरंगी नीति

ठेस लगी और फलतः वह अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी साहित्य के द्वारा आने वाली यूरोप तथा अमरीका की बातो से प्रभावित होने मे अपमान का अनुभव करके उनसे बचने की चेष्टा करने लगा। पश्चिमी सभ्यता की महानता और नैतिकता मे सदेह होना भी स्वाभाविक था। पश्चिमी सभ्यता की नैतिकता मे एक दोरंगापन दिखाई पड़ता है—वह अपने राष्ट्र या जाति या धर्म वालो के प्रति जिन नैतिक नियमो के पालन का आग्रह करती है, बाहरवालो के साथ भी उनके बरते जाने पर ज़ोर नही देती। सरकारो की बात तो जाने दीजिए, पश्चिम के कोई-कोई धार्मिक सम्प्रदाय तक धर्म की अपेक्षा जातीयता को अधिक महत्व देते हैं। अफ्रीका, हिन्दुस्तान या पोलीनेसिया के द्वीपों मे जिन लोगो ने ईसाई धर्म ग्रहण किया है वे सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्र मे यूरोप के गोरो के बराबर के नही हो गये। यूरोप के राष्ट्रों के बीच आपस मे भी युद्ध होते रहते हैं जिनकी भयानकता बढ़ती ही जा रही है। इन युद्धो का कारण या तो यह होता है कि वे अभी तक पुराने समय से चली आने वाली राष्ट्रीय अथवा जातीय विरोध की भावना को भूल नही पाये हैं और या यह कि उनके बीच उन प्रदेशों पर अधिकार जमा लेने की प्रतियोगिता जारी है, जिनके लोग पिछड़े हुए हैं परतु जिनकी भूमि से कच्चा माल मिल सकता है या जिनके यहाँ यूरोप के कारखानों मे बनने वाली चीज़े बिक सकती हैं। एशिया और अफ्रीका का शोषण करने मे यूरोप वालों ने बहुधा करोड़ो मनुष्यो के हिताहित की उपेक्षा की है। गोरे शासको ने कालो के विद्रोहो और उपद्रवो का दमन करने मे बहुधा जिस आतंककारी नीति से काम लिया है, उससे यह मालूम होने लगता है कि उनकी सभ्यता का आधार जातीय आधिपत्य है, उसने राष्ट्रीयता को साम्राज्यवाद बना दिया है, और वह जनता के कल्याण की अपेक्षा आर्थिक शोषण को अधिक महत्व देती है। एक ओर तो बाहर वालो के लिए ये बाते हैं, दूसरी ओर अपने

अधिक व्यापक हो, उसमें निस्स्वार्थता का विकास हो, वह दूसरो के हानि-लाभ का लिहाज़ करना सीखे, समाज के कल्याण के लिए त्याग कर सकने की क्षमता प्राप्त करे। पाश्चात्य सभ्यता ने मानवता की इस चेतना को अपनाने के अभी तक कोई लक्षण नही प्रकट किये हैं। इस कारण उसके प्रति सदेह और सशय की ही नहीं विरोध की भावना का भी उदय हुआ है।

पुनर्संगठन की आवश्यकता

यह स्पष्ट है कि भारत मे पश्चिम के विचारो तथा व्यवहारो का उत्साहपूर्वक स्वागत होना तो दूर रहा, उनकी काफी कड़ी आलोचना हुई। परन्तु एक नव युग का उदय हो चुका था और इसलिए अन्य देशो की भाँति भारत में भी पुनर्संगठन की आवश्यकता थी। पश्चिम में पाश्चात्य लोगो के बीच पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध मे जो आदर्श बन गये थे उनसे इस पुनर्संगठन में भारी सहायता मिल सकने की सम्भावना थी। अगर उनकी बदौलत पाश्चात्य राष्ट्र पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न, सुखी और शक्तिशाली बन सके, तो वे हमारे पुनर्संगठन में भी सहायक हो ही सकते थे।

आर्थिक क्षेत्र मे

भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय के ढंगो मे क्रमशः परिवर्तन होकर उनका पाश्चात्य व्यवस्था की ओर अग्रसर होना अनिवार्य ही था। भारत में अंग्रेज़ व्यवसायियो का निजी हित-साधन का प्रयत्न तो अवश्य एक कठिनाई उत्पन्न करने वाला मसला था, परन्तु यूरोप में जो औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी उसके प्रभाव से तो भारत अब किसी भी तरह बच ही नही सकता था। इस क्रान्ति की मुख्य बात यह थी कि नये-नये यंत्रो के आविष्कार के फल-स्वरूप घरेलू उद्योग-धन्धो का स्थान बहुत

कल कारखानों ने ले लिया। इसके सम्बन्ध में तीन प्रकार के मत रहे हैं। कुछ लोगों ने तो इसका यह कह कर स्वागत किया कि कलों और कारखानों के द्वारा हर एक वस्तु का भारी मात्रा में उत्पादन होने से जनता की सम्पन्नता बढ़ेगी और गरीबी दूर हो जायगी। कुछ लोगों ने इसे अनिवार्य परिवर्तन समझ कर स्वीकार किया। कुछ अन्य लोगों को नई व्यवस्था में वे बुराइयाँ भी दिखाई पड़ीं जिनके कारण पश्चिम में कार्लाइल और टाल्सटाय जैसे नीतिज्ञों ने उसका विरोध किया था, साथ ही उनका यह भी विचार था कि यह व्यवस्था भारतीय सभ्यता की परम्परा के अनुकूल नहीं है। इस नवीन व्यवस्था को स्वीकार कर लेना उन्हें किसी विदेशी सभ्यता के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देना सा प्रतीत हुआ। इसके विरुद्ध चर्खे का पुनरुद्धार करने, घरेलू उद्योग-धन्धों की रक्षा करने और गाँवों को फिर से स्वावलम्बी बनाने की पुकार में देश-भक्ति की भावना छिपी हुई है और उसका लोगों पर कुछ प्रभाव पड़ना आवश्यक था। इसने हमारी राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना को ठेस नहीं लगनी। इस पुकार के पक्ष में यह कहा जा सकता था कि उससे हमारी पाश्चात्य भौतिकवाद से ही नहीं पाश्चात्य आधिपत्य से भी रक्षा हो सकेगी।

सामाजिक क्षेत्र में

अछूतों का उद्धार किया जाय, बाल-विवाह की प्रथा का अंत किया जाय, सारांश यह कि समाज के विभिन्न अङ्गों के बीच अधिक न्याय की नीति बर्ती जाय। कुछ सुधारकों ने पश्चिमी जगत का उदाहरण सामने रख कर केवल विवेक और तर्क के आधार पर इन सुधारों का समर्थन किया। अन्य सुधारकों को अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों की सहायता लेना ज़्यादा अच्छा रास्ता मालूम हुआ। नवीन सुधारों को प्राचीन वेदकालीन व्यवस्था की ओर लौटने का रूप देने में एक साथ दो अच्छाइयाँ थीं। एक तो सुधारों के विरोधियों को उन्हीं के धर्मग्रंथों द्वारा निरुत्तर किया जा सकता था, दूसरे इस मार्ग को ग्रहण करने से राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना को भी किसी प्रकार की ठेस नहीं लगती थी।

धार्मिक क्षेत्र में

जो बात समाज-सुधार के सम्बन्ध में ठीक थी, वह धार्मिक क्षेत्र में और भी अधिक लागू थी। धर्म के क्षेत्र में तो पश्चिम से कुछ ग्रहण करना सरासर विधर्मीपन की बात होती। क्या प्राचीन भारत में दैवी ज्ञान का अपूर्व भांडार नहीं था? क्या हमारे यहाँ गहन विचारों से परिपूर्ण दर्शनशास्त्रों की कमी थी? और अब तो यूरोप के विचारशील व्यक्ति भी उनकी प्रशंसा करने लगे थे। निस्संदेह उनमें परमात्मा की आराधना तथा लोक-कल्याण की साधना के सभी विभिन्न मार्ग उपस्थित थे। सुधारकों का कार्य केवल इतना था कि वे उन्हें समझें और उनका उचित उपयोग करके अपने समाज के धार्मिक जीवन को पवित्र तथा उच्च बनावें।

सुधार आन्दोलन

सन् १८२८ ई० में राजा राममोहन राय ने बंगाल में जिस ब्रह्म समाज की स्थापना की वह एक सुधार आन्दोलन था, साथ ही उसमें

पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति ज़ोरों से काम कर रही थी। सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उत्तरी भारत में जिस आर्य समाज की स्थापना की उसके सम्बन्ध में यह कथन और भी ठीक है। आर्य समाज ने केवल वेदों को ही अपने सुधारों का आधार माना और स्मृतियों, पुराणों तथा अन्य धर्मग्रंथों के सम्बन्ध में यह नीति ग्रहण की कि जहाँ उनका मत वेदों से नहीं मिलता वहाँ वे मान्य नहीं हो सकते। बम्बई के प्रार्थना समाज का आदर्श भी बहुत कुछ ब्रह्म समाज जैसा ही था। सन् १८७५ ई० में ही एक और संस्था की भी स्थापना हुई। उसका नाम था थियोसोफिकल सोसाइटी और इसके संस्थापक थे एक अमरीकन सज्जन, कर्नल ऑलकोट। उनका एक मुख्य उद्देश्य यह था कि हिंदू जाति अपने प्राचीन अध्यात्मवाद तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर दृढ़ता-पूर्वक आरूढ़ रहे। श्रीमती एनी बीसेन्ट का सन् १८९२ ई० में भारत में आगमन हुआ और इसके बाद उन्होंने इस संस्था का बड़े उत्साह और जोश के साथ नेतृत्व किया। भारत के विभिन्न भागों में जो अन्य धर्म-सुधारक अथवा समाज सुधारक हुए उनके भाषणों तथा लेखों में भी इस पुनरुत्थानवाद की झलक दिखाई पड़ती है। उनका प्रयत्न यह था कि हिन्दुओं में जो अंधविश्वास प्रचलित हो गये हैं, जिनके कारण वे अपनी विचारशक्ति खोकर पतित और सच्चे धर्म से दूर हो गये हैं, उनसे उन्हें मुक्ति दिलाई जाय। उनकी पुकार यह थी कि फिर वेदों के अथवा शास्त्रों के मार्ग पर लौट चलो।

अपने खोये हुए वैभव तथा साम्राज्य की स्मृति। सार्वभौम-इसलामवाद के आंदोलन मे भी पुनरुत्थानवाद की झलक मौजूद है। उसका आग्रह इस बात पर रहा है कि यूरोपियन आधिपत्य से मुक्ति पाकर मुसलमानो के धार्मिक शासन का गौरवपूर्ण युग फिर से लाया जाय। उन्नीसवीं सदी के शुरू मे हाजी शरियत अल्ला ने, अरब के वहाबी आंदोलन से प्रभावित होकर, अपने सहधर्मियो को यह उपदेश दिया कि इसलाम की प्राचीन पवित्रता की ओर लौट चलो और उससे भिन्न जो रीति-रिवाज और तौर-तरीक़े चल गये हैं, उन सब को छोड़ दो। उनकी धारणा थी कि अंग्रेज़ी शासन मे आ जाने के समय से हिंदुस्तान दारुल-इसलाम (अर्थात् इसलाम या शांति का देश) न रह कर दारुल-हर्ब (अर्थात् युद्ध का देश) बन गया है। उनके पुत्र दूधू मियाँ ने मनुष्य-मनुष्य की समानता की घोषणा की, दीन-दुखियो का बड़े ज़ोरो से पक्ष लिया। इसलाम की प्रारम्भिक पवित्रता का समर्थन किया और ग़ैर-इसलामी रीति-रिवाजो का विरोध किया। रायबरेली के सैयद अहमद ने मुसलमानो को रसूल के रास्ते पर ले जाने के लिए तरीक़ाए-मुहम्मदिया की स्थापना की और धार्मिक युद्ध की भी सम्भावना देखी। उन्होंने मुसलमानो मे प्रचलित विवाह, शव-संस्कार, आदि से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से रीति-रिवाजो को, जिन मे धन का अपव्यय होता था, यह कहकर रोकने की कोशिश की कि वे रसूल के उपदेशो के अनुकूल नही हैं। इसी समय के आसपास अहले-हदीस की स्थापना हुई। इसके नेताओ ने इसलाम के एकेश्वर-वाद तथा क़ुरान शरीफ़ और हदीसो के महत्व पर ज़ोर दिया और पीरो, फ़क़ीरो आदि की पूजा का विरोध किया। मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद क़ादियानी (१८३६-१६०८ ई०) के प्रयत्नो मे भी इसलाम की प्रारम्भिक महानता को पुनः स्थापित करने की स्पष्ट चेष्टा है।

अलीगढ़ कालेज

इसलाम की प्राचीन महत्ता पर जोर देने वाले मुसलमानों के पुरातन अंग्रेजी शिक्षा के विरोधी थे और उसे अधार्मिक कहते थे। सर सैयद अहमद खाँ (१८१७-१८९८ ई०) का मत इनसे भिन्न था। उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करती, इसलिए उसके रहते भी हिंदुस्तान को दारुल-इसलाम कहा जा सकता है। ये भी कुरान शरीफ को उतना ही महत्व देते थे, परन्तु यह कहते थे कि उसका अर्थ समझदारी के साथ लगाना चाहिए। ईसाई धर्म और इसलाम के बीच जो साम्य है, उस पर भी इन्होंने जोर दिया और यह भी कहा कि कुरान शरीफ में कोई बात ऐसी नहीं है जो समाज-सुधार या औरतों को तालीम देने और उनका रुतबा बढ़ाने का विरोध करती हो। इनका सबसे बड़ा काम सन् १८७५ ई० में अलीगढ़ में मुहमडन ऐंग्लो-ओरियंटल कालेज की स्थापना थी, जिसके द्वारा ये नई शिक्षा और पुरानी विद्या के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे।

पुनरुत्थानवाद का हितकर प्रभाव

प्राचीनप्रियता से प्रेरित पुनरुत्थानवादी आंदोलन इतिहास में कोई नवीन बात नहीं है, सभी धर्मों में ऐसी बातें हुई हैं। परन्तु भारत के आधुनिक परिवर्तन-काल में इसने बड़ा महत्व धारण कर लिया। इस प्रवृत्ति में कुछ अच्छी बातें भी थीं, कुछ बुरी भी। उसने कुछ कठिनाइयों को हल भी कर दिया और कुछ नई कठिनाइयाँ पैदा भी कर दीं। राजनीतिक क्षेत्र में विदेशी आधिपत्य स्थापित हो जाने से भारतनिवासियों की आत्मसम्मान की भावना को जो चोट पहुँची थी, पुनरुत्थानवाद से उसका असर बहुत कुछ कम हो गया। पुनरुत्थानवाद के पाश्चात्य प्रभावों से बचने का मार्ग था, वर्तमान अधोगति के मुका-

बले मे रखने के लिए कुछ गर्व कर सकने योग्य वस्तु थी, और भविष्य मे धर्म की विजय की आशा थी।' पुनरुत्थानवाद की भावना ने लोगो को यह बल प्रदान किया कि वे पश्चिम की ऊपरी चमक-दमक से चकाचौंध न हो जायँ, उसके मनमोहक फैशन पर मोहित न हो जायँ, और उसकी उपयोगी बातो को छाँट-छाँट कर ग्रहण करने के बजाय उसकी सभी बातो का अनुकरण न करने लगे। उससे समाज-सुधार के कार्य मे सुविधा हुई और कतिपय नवीन विचारधाराओं का अपनी प्राचीन व्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सहायता मिली। पुनरुत्थानवाद मे लोगो को प्रेरणा, उत्साह और बल प्रदान कर सकने की शक्ति है और उससे स्वतन्त्रता तथा स्वराज्य की भावना भी विकसित होती है।

परन्तु साथ ही कुछ बातो में पुनरुत्थान की भावना में आधुनिकता की निंदा और विरोध करने की भी प्रवृत्ति है और इस प्रकार वह ज्ञान-विज्ञान तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्रो मे देश को आधुनिक जगत के समकक्ष बनने से रोकता है। पुनरुत्थानवाद केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही अपने को सीमित नही रख सकता, और इस क्षेत्र मे भी वह प्राचीनतम आदर्शों से ही प्रभावित न होकर, बीच के समय की भी अनेक विचारधाराओ, ऐतिहासिक घटनाओ तथा परम्पराओ से भी शिक्षा ग्रहण करने की कोशिश करता है। एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि वह इन विचारो, घटनाओ अथवा परम्पराओ को सदा उनके वास्तविक रूप मे नही देख पाता, बल्कि पुरानी बातो को नई आँखो से देखने के कारण कभी-कभी उनके काल्पनिक रूप खड़े कर लेता है और उन्हे मार्गदर्शक भी बना लेता है।

पृथक्करण की प्रवृत्तियाँ

भारत मे उन्नीसवी शताब्दी में पुनरुत्थानवाद का ज़ोर बढ़ने का सब से बुरा परिणाम यह हुआ कि उसने विभिन्न धर्मों के अनुयायियों

के बीच पृथक्करण की भावना को बढ़ा दिया। हिन्दुओं ने अपने सम्मुख जो आदर्श रक्खा वह था वैदिक युग का भारत, और मुसलमानों का आदर्श था प्रारम्भिक खलीफाओं के समय का अरब। इन दोनों के बीच बड़ा अन्तर था। शताब्दियों तक साथ रह कर उन्होंने जो पारस्परिक सामंजस्य स्थापित किया था, उसे भूल कर अब वे अपनी-अपनी पुरानी परम्पराओं और गाथाओं को याद कर रहे थे, जो न एक देश की थीं और न एक काल की, और जिनके वीर तथा नायक भी भिन्न-भिन्न थे। इस प्रकार जीवन के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में वे एक-दूसरे से और भी दूर हुए जा रहे थे। दो धर्म वालों की पुनरुत्थानवाद की धाराएँ एक दूसरे को बल भी प्रदान कर रही थीं, एक दूसरे से प्रतियोगिता भी कर रही थीं और दृष्टिकोण में एक दूसरे से अधिकाधिक भिन्न बन रही थीं। अपनी धार्मिक तटस्थता की नीति के कारण ब्रिटिश सरकार इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करके दोनों धाराओं के बीच सामंजस्य स्थापित कराने की कोशिश नहीं कर सकती थी। अपने हिताहित की दृष्टि से भी उसकी यह नीति स्वाभाविक ही थी। उसने दोनों धाराओं को स्वीकार किया, शुरू में पुनरुत्थानवाद की मुसलिम धारा के कुछ

और मुसलमान दोनो ही उन रीति रिवाजो को छोडने लगे जो उन्होंने एक दूसरे से ग्रहण की थी और जिनकी बदौलत दोनो धर्मों के अनुयायियों के बीच मेल जोल क़ायम हो गया था। जिन बातो या कामो मे हिन्दू-मुसलमानो का मिलना-जुलना होता था उनका दायरा घटने लगा। जब दो धर्मों के अनुयायी पास-पास रहते हैं तो वे एक दूसरे के त्योहारो और उत्सवो में भी भाग लेने लगते हैं और मनुष्य के स्वभाव मे जो दूसरो से मेल-जोल बढ़ाने और उनकी नक़ल भी करने की प्रवृत्ति है उसकी बदौलत धीरे-धीरे ये उत्सव दोनों के उत्सव बनने लगते हैं, परन्तु पुनरुत्थानवाद का परिणाम यह होता है कि एक धर्म के मानने वाले दूसरे धर्म के उत्सवो मे शामिल न हो। उसका एक परिणाम यह भी होता है कि दो धर्मों के अनुयायियों के बीच खान-पान, पहनावा उढ़ावा, बोल-चाल, आदि के ढंगो में जो भेद पहले से मौजूद है वे क़ायम तो रहते ही हैं, और नये-नये भेद भी निकलने लगते हैं; और लोगो को एक दूसरे से अलग करने वाली इन विभिन्नताओं को दोनो ओर वाले 'सास्कृतिक' विभिन्नता कह कर उनका महत्व बढाने लगते हैं। पुनरुत्थानवाद हिन्दुओं और मुसलमानो की साहित्यिक रचनाओ के बीच भी एक दीवार खड़ी कर देता है और बच्चो की शिक्षा के लिए अलग-अलग विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय तक खड़े करा देता है। वह साहित्य पर भी अपनी छाप लगा देता है और उर्दू की रचनाओ से संस्कृत के शब्दो को और हिन्दी, बॅगला आदि की रचनाओ से अरबी-फारसी के शब्दों को निकाल बाहर कराने लगता है। वह लोगों का साम्प्रदायिक आधार पर संगठन कराने लगता है और अक्सर ऐसा उग्र रूप भी धारण कर लेता है जिसकी बदौलत विभिन्न सम्प्रदाओं के बीच धार्मिक अथवा अन्य प्रश्नो को लेकर घोर वाद-विवाद छिड़ जाता है।

पुनरुत्थानवाद और इतिहास

सभी बड़े आंदोलनों की भाँति पुनरुत्थानवाद इतिहास पर भी अपनी छाप लगाता है और लोग ऐतिहासिक घटनाओं को एक विशेष दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। उदाहरणतः उसने प्राचीन भारत और मध्य-कालीन अरब पर ऐसा पवित्रता का पर्दा डाल दिया है कि उनकी किसी बात की आलोचना करना कठिन हो जाता है। पुनरुत्थानवादी हिंदू उस लम्बे समय का बखान करता है जब हिन्दू जाति स्वाधीन थी। उस समय के गाँव स्वावलम्बी थे, घर-घर चर्खा चलता था, लोगों का जीवन सरल था, उनमें संतोष था और वे आध्यात्मिक विषयों मे दत्त-चित्त रहते थे, इन सब बातों का वह इस प्रकार वर्णन करता है जैसे उस समय पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आया था। मुसलिम पुनरुत्थानवादी को उन पाँच सदियों का बखान करने मे आनंद आता है जब भारत मे मुसलमानों की बादशाहत थी। मराठा पुनरुत्थानवादी यह सोचता है कि अगर अंग्रेजों ने हस्तक्षेप न किया होता तो उसके पूर्वज सन १७६१ ई० वाली पानीपत की पराजय से शीघ्र ही सँभल गये होते

सभा को कई नेता प्रदान किये हैं। सयुक्त प्रान्त में मुसलमानो की सख्या केवल १४ प्रतिशत है, परन्तु मुसलिम लीग की नीति पर इनका वड़ा प्रभाव पड़ता है, जिसका एक कारण यह है कि वे वहाँ के हैं जहाँ दिल्ली, आगरा, लखनऊ और जौनपुर हैं जो मुग़ल साम्राज्य के समय मे मुसलमानो की राजधानियाँ थी। पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्तियो को याद रखने पर यह बात आश्चर्यजनक नहीं मालूम होगी कि कुछ बातो का तारतम्य जोड़कर मुसलमान कुछ प्रान्तो मे फिर मुसलिम शासन स्थापित करने का स्वप्न देखते हैं, और न यही आश्चर्य की बात है कि सिक्ख इसका घोर विरोध करते है।

पुनरुत्थानवाद मे बाधाएँ

परन्तु पुनरुत्थानवाद के विकास मे दो बड़ी रुकावटे हैं। एक तो जब किसी धर्म के अनुयायियो मे पुनरुत्थान की भावना फैलती है तो उसके अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायो और उप-सम्प्रदायो को लेकर भी यही भावना कार्य करने लगती है, जिसका नतीजा यह होता है कि पुनरुत्थानवादियो मे आन्तरिक सघर्ष भी बढ़ने लगता है जिससे पुन-रुत्थानवाद की शक्ति को धक्का लगने लगता है। दूसरे, पुरानी परि-स्थिति मे जब आवश्यक परिवर्तन और हेर-फेर हो चुकते हैं और राष्ट्री-यता तथा आधुनिकता की उन्नति के लिए भूमि तैयार हो जाती है तो पुनरुत्थानवाद शीघ्र ही शक्तिहीन हो जाता है।

आधुनिकता

आधुनिक भारत के जीवन मे पुनरुत्थानवाद एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है, परन्तु वही एक मात्र प्रवृत्ति न थी और न हो सकती थी। कोई शक्ति ऐसी नही है जो आधुनिक विज्ञान के आगमन को रोक सके या यात्रा तथा व्यापार के साधनो पर उसका प्रभाव न पड़ने दे। उद्योग-धन्धो मे भी यन्त्रो का प्रवेश होकर उनके ढगो मे आधुनिकता का आना

अनिवार्य था यद्यपि इस क्षेत्र मे उन्नति राजनीतिक कारणों से कुछ धीमी चाल से हुई है। विज्ञान पुनरुत्थानवाद का नहीं, आधुनिकता का समर्थक तथा सहायक है। उन्नीसवीं शताब्दी मे भी पश्चिम के समाज-शास्त्र के प्रति यहाँ के शिक्षित वर्ग मे प्रशसा की भावना फैलने लगी थी और विचारशील व्यक्ति केवल विवेक तथा मानवता के आधार पर यहाँ की समस्याओं पर विचार करने लगे थे। पिछले साठ वर्षों मे धार्मिक कट्टरता और सामाजिक रूढ़िवाद की प्रवृत्तियो की शक्ति घटती ही रही है। केवल राजनीति ही नहीं कला और साहित्य—कविता, कहानी, उपन्यास, इतिहास-लेखन—के क्षेत्रों मे भी बहुसख्यक लोग राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं। राजनीतिक नेता और कार्य-कर्ता मोटे तौर पर इस बात पर एकमत थे कि भारतीय शासन-प्रणाली मे क्रमशः इस प्रकार परिवर्तन होना चाहिए कि लोकतत्र की स्थापना हो जाय। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वराज्य की नई भावना का उदय हुआ। पश्चिम की उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधारा मे राष्ट्रीयता तथा विचारों की उदारता के साथ ही एक बात और भी स्पष्ट थी, और वह थी परलोक के स्थान पर इहलोक का महत्व। पश्चिम के सम्पर्क का यह परिणाम होना अनिवार्य था कि हमारी पुरानी सामाजिक व्यवस्था मे उथल-पुथल मचाती। पुराने सामाजिक बन्धन शिथिल पड़ने लगे और व्यक्तिवाद का महत्व बढ़ने लगा। चाहे शिक्षा के कारण हो और चाहे घटनाक्रम के कारण, पुरानी रीतियो और परम्पराओं के टूटने मे हानि की सम्भावना अवश्य है, परन्तु साथ ही मनुष्य की—व्यक्ति की—महत्ता मानने मे भी अच्छाई का अभाव नहीं है।

दिखाई पड़ता है। इसका कारण है दोनो की मनोवैज्ञानिक विशेषताओ का साम्य। विज्ञान इस मत का समर्थन नही करता कि मनोवैज्ञानिक विशेषताओ की विभिन्नता का मुख्य कारण जाति-भेद होता है। कुछ बाते जो सामाजिक अथवा ऐतिहासिक कारणो से होती है, ग़लती से जाति-भेद का परिणाम समझ ली जाती है। भूमि, जलवायु, व्यवसाय और समाज-सगठन आदि वातावरण के फल-स्वरूप लोगो के शारीरिक गठन और इससे भी अधिक उनकी सामाजिक परम्पराओ मे कुछ विशेषताएँ आ जाती हैं। परन्तु ये विशेपताएँ ही सब कुछ नही होती। मनुष्य के स्वभाव पर और दूसरी बातों का भी प्रभाव पड़ता है और इन विशेषताओ तथा अन्य बातों मे एक दूसरे के कारण भी हेरफेर होते रहते है।

भारत के निवासियो मे कुछ जातीय भेद दिखाई पड़ते है, उदाहरणतः पजाब और दक्षिण के, महाराष्ट्र और बंगाल के, लोगो के बीच यह अतर देखा जा सकता है। परन्तु यह अंतर इतना अधिक नही है कि उसके कारण भारत के निवासी अपने को एक न समझ सके। इसके सिवाय एक बात और है। केरल (मालाबार) और सीमा-प्रान्त के निवासी तो जाति मे भी एक है और धर्म मे भी, परन्तु बाक़ी लोगो के सम्बन्ध मे यह बात नही है। उदाहरणतः बगाल के हिन्दू और मुसलमान धर्म की दृष्टि से दो सम्प्रदायो के अनुयायी हैं परन्तु जाति की दृष्टि से बंगाली हिन्दू अन्य प्रान्तो के हिन्दुओ की अपेक्षा बंगाली मुसलमान का निकटवर्ती है, और इसी प्रकार बंगाली मुसलमान अन्य प्रान्तो के मुसलमानो की बनिस्बत बंगाली हिंदू का नज़दीकी भाई है। अधिकाश मुसलमान भारत के उतने ही प्राचीन निवासी हैं जितने कि हिदू। जो मुसलमान बाद को बाहर से आये हैं, जैसे पठान और ईरानी, वे भी मोटे तौर पर उसी जाति के हैं जिसके उत्तरी भारत के हिंदू और फिर हिदू से मुसलमान बनने वाले

भारतीय स्वभाव

किसी भी देश के निवासियों के जातीय स्वभाव की व्याख्या कर सकना बड़ा कठिन होता है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय स्वभाव को तर्क और व्याख्या करने में, सिद्धान्त, और निष्कर्ष निकालने में आनन्द मिलता है। वह बड़ा कल्पनाशील भी है और भावुक भी। अंग्रेजों का स्वभाव हम से बहुत भिन्न है। अंग्रेज भावुकता को दबा कर रखता है, तर्कों और सिद्धान्तों के प्रति अविश्वास रखता है और व्यावहारिकता, संगठन तथा नियम-पालन को अधिक महत्व देता है। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि एक दूसरे के स्वभाव की विशेषताओं को न समझ सकने के कारण ब्रिटेन और भारत के बीच अनावश्यक गलतफहमी और बदगुमानी रही है। सन् १९२१, १९३१, १९३९ और १९४२ में समझौते की वार्त्ता भंग होने का भी एक कारण यही था। किसी हद तक इस स्वभाव-वैषम्य का ही यह परिणाम है कि भारत की ओर से घोषणाओं की माँग होती है और ब्रिटेन की ओर से घोषणाएँ करने में संकोच होता है। हिंदू-मुसलिम समस्या के सम्बन्ध में भारतवासियों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ कुछ बातों में तो सहायक सिद्ध हुई हैं और कुछ बातों में बाधक। बहुत सी बातों के कम या अधिक महत्व के सम्बन्ध में दोनों का माप-दंड मिलता-जुलता ही है, दोनों ही में एक गहरी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है, दोनों ही में केवल सांसारिक हानि-लाभ को ही अधिक महत्व न देने का एक सा दृष्टिकोण है, दोनों ही में विद्या, चरित्र, वीरता तथा त्याग के प्रति

सम्मान प्रदर्शित करने की एक सी भावना है। दोनो ही के स्वभाव मे सिद्धान्तो का विशेष महत्व होने के कारण, बहुत सी भेद-भाव बढ़ाने वाली प्रवृत्तियो का प्रभाव कम होकर सास्कृतिक विकास की रूपरेखा मे साम्य अथवा सादृश्य उत्पन्न हो जाता है। दूसरी ओर, सैद्धान्तिक निष्कर्षो को अधिक महत्व देने के ही कारण कभी-कभी समझौता कठिन हो जाता है। मिसाल के तौर पर हम काग्रेस और मुसलिम लीग के बीच सन् १९३८ और १९३९ मे होने वाली समझौते की वार्त्ताओ को ले सकते है। इन वार्त्ताओ के भङ्ग हो जाने, वरन् ठीक से प्रारम्भ ही न हो सकने, का कारण यही था कि मुसलिम लीग शुरू ही मे यह स्वीकार करा लेना चाहती थी कि वह मुसलमानो की एक मात्र प्रतिनिधि सस्था है और काग्रेस हिन्दुओ की संस्था है और काग्रेस इस बात को कदापि स्वीकार करने को तैयार नही थी। यहाँ हमे इस प्रश्न पर कुछ नही कहना है कि लीग की यह माँग वाजिबी थी या नहीं और न इस पर कि काग्रेस का उसे स्वीकार न करना उचित था या अनुचित। हमारा अभिप्राय केवल यह दिखाना है कि दोनो ओर वाले सैद्धान्तिक पहलुओ को कितना महत्व दे रहे थे। इसी मनोवृत्ति का ही एक परिणाम यह भी है कि जब कोई राष्ट्रीय अथवा साम्प्रदायिक दल अपनी राज-नीतिक माँगे पेश करता है तो वह उन्हे तर्क की दृष्टि से सर्वांगीण बनाने की कोशिश करता है। भारतीय स्वभाव की भावुकता का एक दृष्टान्त झडो और गीतो के प्रेम मे देखा जा सकता है। ये मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ सभी भारतवासियो मे समान रूप से वर्तमान है, इस बात का यही काफी सबूत है कि जब कोई एक दल अपने लिए कोई झडा या पुकार या गीत चुनता है, तो दूसरे दल भी शीघ्र ही उसके जवाब मे वैसी कोई चीज़ तैयार कर लेते है। एक ही प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण बनने वाले एक ही प्रकार के परन्तु प्रतियोगी प्रतीको के कारण पिछले आठ-दस वर्षो के भीतर बहुत सी बदगुमानियाँ पैदा हुई हैं।

मनोवैज्ञानिक रोग का इलाज

स्वभाव की विशेषताओं का बदल देना सहज काम नहीं है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान यह बताता है कि उनसे होने वाली हानियों से बचने के उपाय में सब से पहली बात उनसे परिचित हो जाना है। भारतीय समाज के मनोवैज्ञानिक रोग के इलाज के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि यद्यपि तर्क, सिद्धान्त, व्याख्या और घोषणा बड़ी उपयोगी बातें हैं परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में उनका समझौते की आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक होता है। हमारा देश इस समय एक प्रकार की शासन-प्रणाली को त्याग कर दूसरे प्रकार की शासन-व्यवस्था में पदार्पण करता हुआ एक परिवर्तन-काल से गुजर रहा है। पहले की शासन-व्यवस्था का उद्देश्य केवल यह था कि सेना और पुलिस के द्वारा देश की बाहरी शत्रुओं से और उसकी शांति की भीतरी शत्रुओं से रक्षा की जाय। शासन-व्यवस्था का वर्तमान उद्देश्य यह है कि शिक्षा-प्रचार तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति के द्वारा जनता के सुख-समृद्धि की वृद्धि की भी चेष्टा की जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जनता के सहयोग की भारी मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। इसे सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि लोग व्यावहारिक दृष्टिकोण से काम ले, आदान-प्रदान की आदत डाले, अनावश्यक बातों को महत्व न दे और छोटी-छोटी बातों को सिद्धान्त न मान बैठें। इसमें कोई ऐसी बात नहीं है जो भारतीय परम्परा या माप-दंड के प्रतिकूल हो। बात केवल इतनी है कि पुराने समय की केवल शांति-रक्षा का प्रबन्ध करने वाली स्वेच्छाचारी शासन प्रणाली के वातावरण के अनुकूल जिन मनोवृत्तियों का विकास हुआ है उनके स्थान पर अब उन अन्य मनोवृत्तियों को महत्व देना है जो आधुनिक युग की अधिक व्यापक शासन व्यवस्था के अनुकूल और उपयुक्त हैं।

दूसरा अध्याय

लोकतंत्र और साम्प्रदायिकता

राष्ट्रीय आन्दोलन

सन् १८५७ ई० के ग़दर के दमन के साथ ही पश्चिमी सुधारवाद के सम्पर्क के फल-स्वरूप भारतीय राजनीति में एक नई धारा का प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्रता की आकांक्षा सभी जातियों में स्वाभाविक होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस आकांक्षा के फल-स्वरूप भारत में यह आन्दोलन उठा कि देश के शासन में जनता के प्रतिनिधियों का भी हाथ रहना चाहिए। और उसने शीघ्र ही फैलकर स्वराज्य आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) की स्थापना हुई और सन् १८९२ में और फिर १९०९ में शासन-प्रणाली में कुछ सुधार हुए। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस बात के आसार दिखाई पड़ने लगे थे कि भारतीयों को सरकारी नौकरियों में ही नहीं, शासन-नीति निर्धारित करने में भी अधिकाधिक भाग मिलेगा। लार्ड कर्ज़न (१८९८-१९०५) के शासनकाल में बंग-भंग के फल-स्वरूप जो उत्तेजना फैली उससे प्रगति में और भी तेज़ी आ गई। अब लोकतन्त्र की स्थापना दूर की सम्भावना नहीं, बल्कि निकट की वास्तविकता मालूम होने लगी।

लोकतन्त्र शासन की कठिनाइयाँ

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन स्वराज्य आन्दोलन में परिणत हो गया और उसने लोकतन्त्र के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया।

दूसरा अध्याय

लोकतंत्र और साम्प्रदायिकता

राष्ट्रीय आन्दोलन

सन् १८५७ ई० के ग़दर के दमन के साथ ही पश्चिमी सुधारवाद के सम्पर्क के फल-स्वरूप भारतीय राजनीति मे एक नई धारा का प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्रता की आकाक्षा सभी जातियों मे स्वाभाविक होती है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इस आकाक्षा के फल-स्वरूप भारत मे यह आन्दोलन उठा कि देश के शासन मे जनता के प्रतिनिधियो का भी हाथ रहना चाहिए। और उसने शीघ्र ही फैलकर स्वराज्य आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। सन् १८८५ मे इडिअन नेशनल काग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) की स्थापना हुई और सन् १८९२ मे और फिर १९०९ में शासन-प्रणाली मे कुछ सुधार हुए। इस प्रकार बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इस बात के आसार दिखाई पड़ने लगे थे कि भारतीयो को सरकारी नौकरियो मे ही नही, शासन-नीति निर्धारित करने मे भी अधिकाधिक भाग मिलेगा। लार्ड कर्ज़न (१८९८-१९०५) के शासनकाल मे बंग-भंग के फल-स्वरूप जो उत्तेजना फैली उससे प्रगति मे और भी तेज़ी आ गई। अब लोकतन्त्र की स्थापना दूर की सम्भावना नहीं, बल्कि निकट की वास्तविकता मालूम होने लगी।

लोकतन्त्र शासन की कठिनाइयाँ

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन स्वराज्य आन्दोलन मे परिणत हो गया और इसने लोकतन्त्र के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया।

नवीन आदर्शों की स्थापना में विलम्ब

यूरोप में जब नरेशों के स्वेच्छाचार का अंत होकर लोकमत के अनुसार चलने वाली शासन-प्रणाली की स्थापना हुई, तो इस परिवर्तन के साथ ही शासन के आदर्शों में भी परिवर्तन हो गया। पुराना आदर्श केवल रक्षात्मक था। सरकार का कर्तव्य यही समझा जाता था कि वह देश की विदेशी आक्रमण से रक्षा करे, देश के अंदर शांति की रक्षा करे, और सेना तथा पुलिस के अतिरिक्त न्याय करने के लिए अदालतें भी रक्खे। शासन का नया आदर्श यह था कि सरकार जनता में शिक्षा का प्रचार करने, उसकी आर्थिक स्थिति सुधारने और उसके स्वास्थ्य की व्यवस्था करने आदि बातों की ओर भी सक्रिय रूप से अग्रसर हो। परन्तु भारत में शासन ने रक्षात्मक के बजाय सुधारात्मक रूप धारण करने में बड़ा विलम्ब किया। १८९२, १९०९, १९१९ और १९३५ के शासन-सुधारों पर विचार करने से मालूम होगा कि स्वराज्य की ओर प्रगति भी धीमी चाल से हुई और जनता को मिलने वाले अधिकारों के उपयोग में भाग ले सकने वाले लोगों यानी वोटरों की संख्या भी बड़ी मन्द गति से बढ़ी। और इन शासन-सुधारों के बीच-बीच में जो समय मिला उसका नये प्रयोगों के उपयुक्त भूमि तैयार करने के लिए उपयोग नहीं किया गया। उन्नीसवीं सदी के पिछले भाग में यूरोप और अमरीका में यह स्वीकार कर लिया गया था कि प्रारम्भिक शिक्षा का अनिवार्य रूप से प्रचार करना सरकार का कर्तव्य है, परन्तु भारत में सरकार रुपये की कमी की ही दलील पेश करती रही और १० प्रतिशत से भी कम लोगों को साक्षर बना कर संतुष्ट हो गई। मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि वह जिन बातों को भी देखता है उनके सम्बन्ध में भला या बुरा निर्णय देना चाहता है। अगर उसे अपने समय के अनुकूल शिक्षा नहीं मिली है तो वह पहले से चली आने वाली

पहले तक भारत की रक्षा का भार ब्रिटेन की जल-सेना, ब्रिटिश सैनिकों की एक छोटी सी स्थल-सेना और भारतीय सैनिको की इससे कुछ बड़ी स्थल-सेना पर था। इस भारतीय सेना के भी बड़े अफ़सर सब अंग्रेज़ ही होते थे। साधारण सैनिको की भर्ती के सम्बन्ध मे भी हिन्दुस्तानियो को जवाँमर्द और ना-जवाँमर्द नाम की दो श्रेणियो मे विभक्त कर दिया गया था। इस विभाजन का अत अभी सन् १६३६ मे प्रारम्भ होने वाले महायुद्ध की आवश्यकताओ के फल-स्वरूप प्रारम्भ हुआ है। इसके सिवाय देश की रक्षा कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के लिए जिस आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान की भावना का जाग्रत होना आवश्यक होता है, उसका विकास कर सकने का भी अभी भारतवासियो को अवसर नही मिला है।

लोकतत्र की विचित्रता

ये सब बाते स्वराज्य के विरोध मे दलील के तौर पर पेश की जा सकती है और की भी गई हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह दलील भी दी जा सकती है कि जिस शासन-व्यवस्था के फल-स्वरूप यह परिस्थिति उत्पन्न हुई है उसमे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। यही लोकतत्र की विचित्रता है जो इतिहास मे अनेक देशो मे प्रकट हुई है। उसकी सफलता के लिए जिन बातो का होना आवश्यक है, उन्हे केवल वही ला भी सकती है। यहाँ कार्य और कारण के बीच अन्योन्याश्रय वाला सम्बन्ध है। पुराने समय से चली आने वाली निरक्षरता, निर्धनता और आत्म-रक्षा सम्बन्धी असमर्थता स्वराज्य की स्थापना मे भारी बाधाएँ भी हैं, साथ ही वे स्वराज्य की स्थापना के पक्ष मे प्रबल तर्क भी है, क्योकि इन बुराइयो का अत स्वराज्य के द्वारा ही हो सकता है। स्वराज्य की स्थापना तो आवश्यक है ही, साथ ही निरक्षरता तथा निर्धनता पर भी वार करना आवश्यक है।

पहले तक भारत की रक्षा का भार ब्रिटेन की जल-सेना, ब्रिटिश सैनिकों की एक छोटी सी स्थल-सेना और भारतीय सैनिको की इससे कुछ बड़ी स्थल-सेना पर था। इस भारतीय सेना के भी बड़े अफसर सब अंग्रेज़ ही होते थे। साधारण सैनिको की भर्ती के सम्बन्ध मे भी हिन्दुस्तानियो को जवाँमर्द और ना-जवाँमर्द नाम की दो श्रेणियो मे विभक्त कर दिया गया था। इस विभाजन का अंत अभी सन् १६३६ मे प्रारम्भ होने वाले महायुद्ध की आवश्यकताओ के फल-स्वरूप प्रारम्भ हुआ है। इसके सिवाय देश की रक्षा कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के लिए जिस आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान की भावना का जाग्रत होना आवश्यक होता है, उसका विकास कर सकने का भी अभी भारतवासियो को अवसर नही मिला है।

लोकतंत्र की विचित्रता

ये सब बाते स्वराज्य के विरोध मे दलील के तौर पर पेश की जा सकती है और की भी गई हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह दलील भी दी जा सकती है कि जिस शासन-व्यवस्था के फल-स्वरूप यह परिस्थिति उत्पन्न हुई है उसमे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। यही लोकतंत्र की विचित्रता है जो इतिहास मे अनेक देशो मे प्रकट हुई है। उसकी सफलता के लिए जिन बातो का होना आवश्यक है, उन्हे केवल वही ला भी सकती है। यहाँ कार्य और कारण के बीच अन्योन्याश्रय वाला सम्बन्ध है। पुराने समय से चली आने वाली निरक्षरता, निर्धनता और आत्म-रक्षा सम्बन्धी असमर्थता स्वराज्य की स्थापना मे भारी बाधाएँ भी हैं, साथ ही वे स्वराज्य की स्थापना के पक्ष मे प्रबल तर्क भी हैं, क्योकि इन बुराइयो का अंत स्वराज्य के द्वारा ही हो सकता है। स्वराज्य की स्थापना तो आवश्यक है ही, साथ ही निरक्षरता तथा निर्धनता पर भी वार करना आवश्यक है।

क प्रति सम्मान तथा आगे के लिए धीरे-धीरे सुधार की भावना हो, तो रुढ़िवादियों का शीघ्र गति से उन्नति चाहने वाले प्रगतिवादियों के विरोध में एक राजनीतिक दल बन सकता है और उसके साथ वह भी शासन-शक्ति का उपयोग करने का अवसर पा सकता है। ब्रिटेन में अकसर प्रगतिवादियों और रूढवादियों ने बारी-बारी से मंत्रिमंडल बना कर शासन-शक्ति का उपभोग किया है। परन्तु किसी वर्ग विशेष की अपने विशेषाधिकारों की रक्षार्थ बनाई गई सभा कभी सच्चे मानी में राजनीतिक दल नहीं बन सकती। अगर किसी उपाय से उसे राजनीतिक शक्ति अपने अधिकार में कर लेने में सफलता भी मिल जाय, तो इसका परिणाम यही होगा कि राज्यक्रान्ति के लिए रास्ता साफ हो जायगा।

व्यावसायिक सम्पत्ति की कमी

आधुनिक युग में कहीं-कहीं सामंतों (ज़मींदारों और जागीरदारों) ने धनी व्यवसायियों से संधि करके भी अपना बल बढ़ाया है। परन्तु भारत में वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक तक बड़े उद्योग-धन्धों की इतनी कम उन्नति हो पाई थी कि धनी व्यवसायियों या पूँजीपतियों का कोई बड़ा समुदाय ही नहीं बन पाया था जिसके साथ भारत के ज़मींदार संधि करके अपना बल बढ़ा सकते।

शिक्षित मध्य वर्ग

इस प्रकार सार्वजनिक जीवन में शिक्षित मध्य वर्ग का आधिपत्य रहा। इस वर्ग में ऐसे लोग थे जिनके पास समय, महत्वाकांक्षा, बुद्धि-बल, सहनशीलता तथा दृष्टिकोण की उदारता, आदि सभी आवश्यक बातें थीं। अभी उनकी संख्या बहुत कम थी—अंग्रेज़ी शिक्षा अभी बीस लाख व्यक्तियों तक भी नहीं पहुँच पाई थी—और, जैसा कि सन् १९१८ के बाद की घटनाओं से प्रमाणित हुआ, महान नेताओं के लिए यह

उनके साथ-साथ नही चल सकी है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली ने मनोविज्ञान से समुचित लाभ नही उठाया। थोड़े ही समय पहले तक उच्च शिक्षा में साहित्य का तो बड़ा महत्व था और भौतिक-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान का बहुत कम। इसलिए उसका विद्यार्थी के स्वभाव तथा मानसिक गठन पर जैसा चाहिए वैसा प्रभाव नही पड़ता था। अंग्रेज़ी के सिवाय अन्य विदेशी भाषाओ के ज्ञान का अभाव भी आधुनिक विचार-धाराओ तथा आन्दोलनो, और विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियो, का पूरा-पूरा रहस्य समझने मे बाधक होता था। परन्तु शिक्षित भारत ने विदेश-यात्रा के द्वारा किसी हद तक इस त्रुटि को दूर कर लिया है और ससार सम्बन्धी उस नाजानकारी से भी मुक्ति पा ली है जो कि ग्यारहवी और उन्नीसवी सदियो के बीच होने वाली भारत की पराजयो का मुख्य कारण थी। शिक्षित भारतीय वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ मे यह समझने लग गया था कि पुनरुत्थानवाद की शक्ति क्षीण हो रही है, स्वराज्य निकट आ रहा है, भूतकाल का वास्तविक अथवा काल्पनिक सतयुग भविष्य की वास्तविकता मे परिणत किया जा सकता है, और विभिन्न सम्प्रदायो के बीच की खाई को पाटने के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता है। यह उसने पहले ही समझ लिया था कि सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रो का पारस्परिक सम्बन्ध है और इसलिए कांग्रेस के साथ उसने समाज-सुधार सम्मेलन और औद्योगिक सम्मेलन भी जोड़ दिये। शिक्षित वर्ग ने साधारण जनता मे शिक्षा का प्रचार करने की आवश्यकता भी समझ ली थी। जब १९११ ई० मे गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत की बड़ी कौसिल मे प्रारम्भिक शिक्षा को निश्शुल्क और अनिवार्य कर देने के लिए बिल पेश किया तो शिक्षित वर्ग ने उसका बड़े उत्साह से समर्थन किया। अगर यह बिल पास हो जाता तो अब तक भारतीय जीवन में भारी कायापलट हो गई होती, और अगर बिल सरकारी सदस्यो के विरोध के कारण पास

उनके साथ-साथ नहीं चल सकी है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली ने मनोविज्ञान से समुचित लाभ नहीं उठाया। थोड़े ही समय पहले तक उच्च शिक्षा में साहित्य का तो बड़ा महत्व था और भौतिक-विज्ञान तथा समाज विज्ञान का बहुत कम। इसलिए उसका विद्यार्थी के स्वभाव तथा मानसिक गठन पर जैसा चाहिए वैसा प्रभाव नहीं पड़ता था। अंग्रेज़ी के सिवाय अन्य विदेशी भाषाओं के ज्ञान का अभाव भी आधुनिक विचार-धाराओं तथा आन्दोलनों, और विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों, का पूरा-पूरा रहस्य समझने में बाधक होता था। परन्तु शिक्षित भारत ने विदेश-यात्रा के द्वारा किसी हद तक इस त्रुटि को दूर कर लिया है और संसार सम्बन्धी उस नाजानकारी से भी मुक्ति पा ली है जो कि ग्यारहवीं और उन्नीसवीं सदियों के बीच होने वाली भारत की पराजयों का मुख्य कारण थी। शिक्षित भारतीय वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में यह समझने लग गया था कि पुनरुत्थानवाद की शक्ति क्षीण हो रही है, स्वराज्य निकट आ रहा है, भूतकाल का वास्तविक अथवा काल्पनिक स्वर्णयुग भविष्य की वास्तविकता में परिणत किया जा सकता है और विभिन्न सम्प्रदायों के बीच की खाई को पाटने के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता है। वह उससे पहले ही समझ लिया था कि सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध है और इसलिए कांग्रेस के साथ उसने समाज-सुधार सम्मेलन और औद्योगिक सम्मेलन भी जोड़ दिये। शिक्षित वर्ग ने साधारण जनता में शिक्षा का प्रचार करने की आवश्यकता भी समझ ली थी। जब १९११ ई० में गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत की बड़ी कौंसिल में प्रारम्भिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य कर देने के लिए बिल पेश किया तो शिक्षित वर्ग ने उसका बड़े उत्साह से समर्थन किया। अगर वह बिल पास हो जाता तो अब तक भारतीय जीवन में भारी कायापलट हो गई होती, और अगर बिल सरकारी सदस्यों के विरोध के कारण पास

उनके साथ-साथ नहीं चल सकी है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली ने मनोविज्ञान से समुचित लाभ नहीं उठाया। थोड़े ही समय पहले तक उच्च शिक्षा में साहित्य का तो बड़ा महत्व था और भौतिक-विज्ञान तथा समाज विज्ञान का बहुत कम। इसलिए उसका विद्यार्थी के स्वभाव तथा मानसिक गठन पर जैसा चाहिए वैसा प्रभाव नहीं पड़ता था। अंग्रेज़ी के सिवाय अन्य विदेशी भाषाओं के ज्ञान का अभाव भी आधुनिक विचार-धाराओं तथा आन्दोलनों, और विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों, का पूरा-पूरा रहस्य समझने में बाधक होता था। परन्तु शिक्षित भारत ने विदेश-यात्रा के द्वारा किसी हद तक इस त्रुटि को दूर कर लिया है और संसार सम्बन्धी उस नाजानकारी से भी मुक्ति पा ली है जो कि ग्यारहवीं और उन्नीसवीं सदियों के बीच होने वाली भारत की पराजयों का मुख्य कारण थी। शिक्षित भारतीय वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में यह समझने लग गया था कि पुनरुत्थानवाद की शक्ति क्षीण हो रही है, स्वराज्य निकट आ रहा है, भूतकाल का वास्तविक अथवा काल्पनिक सतयुग भविष्य की वास्तविकता में परिणत किया जा सकता है, और विभिन्न सम्प्रदायों के बीच की खाई को पाटने के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता है। यह उसने पहले ही समझ लिया था कि सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध है और इसलिए कांग्रेस के साथ उसने समाज-सुधार सम्मेलन और औद्योगिक सम्मेलन भी जोड़ दिये। शिक्षित वर्ग ने साधारण जनता में शिक्षा का प्रचार करने की आवश्यकता भी समझ ली थी। जब १९११ ई० में गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत की बड़ी कौंसिल में प्रारम्भिक शिक्षा को निश्शुल्क और अनिवार्य कर देने के लिए बिल पेश किया तो शिक्षित वर्ग ने उसका बड़े उत्साह से समर्थन किया। अगर यह बिल पास हो जाता तो अब तक भारतीय जीवन में भारी कायापलट हो गई होती, और अगर बिल सरकारी सदस्यों के विरोध के कारण पास

राजनीतिक शक्ति के द्वारा निश्चिन्तता की प्राप्ति का प्रयत्न राजनीति का एक मुख्य अग है। राजनीति मे बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि यह निश्चिन्तता किस रूप मे प्रदान की जाती है और राजनीतिक शक्ति का उपयोग किस प्रकार किया जाता है। जिन सस्थाओ के द्वारा सब को अपने हितो की रक्षा के सम्बन्ध मे निश्चिन्तता की प्राप्ति होती हो तथा सब को मिल कर राजनीतिक शक्ति का उपयोग करने का अवसर मिलता हो, उनसे लोकमत की शक्ति बढती है और लोगों मे सार्वजनिक हित की निस्स्वार्थ भावना का विकास होता है। यदि विभिन्न समुदाय अपने-अपने लिए अलग-अलग निश्चिन्तता तथा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तो इससे उनके बीच सघर्ष की वृद्धि होती है।

ग्रीस का एक उदाहरण

स्वराज्य की स्थापना के समय कभी-कभी यह देखा गया है कि जनता मे एकता का अभाव है और उसके विभिन्न समुदाय परस्पर-विरोधी मार्गों से निश्चिन्तता की प्राप्ति का उपाय कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति मे राजनीतिज्ञो का पहला कार्य यह रहा है कि उन परस्पर-विरोधी मार्गों को एक मार्ग मे परिणत कर दिया जाय। उदाहरणतः एथिन्स (ग्रीस) के राजनीतिज्ञ क्लीसथैनीज़ ने ई० पू० छठी शताब्दी मे देखा कि धनी कुटुम्बो और पहाड़ियो, मैदानो तथा सागर-तट के लोगो के झगडो के कारण लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली मे बाधा उपस्थित हो रही थी। उसने राजनीतिक क्षेत्र मे उनका नये ढग से वर्गीकरण करके उन्हे इस बात के लिए राज़ी किया कि वे मिल कर काम करे जिसका नतीजा यह हुआ कि वे अपने झगड़ो को भूल गये और उनमे राजनीतिक एकता आ गई।

एकता और विभिन्नता

अगर देश मे ऐसे धार्मिक अथवा सामाजिक समुदाय हैं जो मिल कर एक नही हो पाये हैं तो राजनीति मे इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा। परन्तु इस विभिन्नता की नीव पर राजनीतिक महल खड़ा करना और निश्चिन्तता तथा राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के प्रयत्नों मे पृथक्करण की भावना को प्रोत्साहन प्रदान करना ख़तरे की बात है। निर्माणात्मक राजनीति का कार्य तो यह है कि वह पारस्परिक सहयोग के नवीन मार्ग खोल दे और विभिन्नताओ के बीच सामंजस्य स्थापित कर दे। सन् १९०६ मे मुसलिम लीग की स्थापना के समय मुसलमानो को यह आशंका थी कि हिन्दू और मुसलिम जनता यदि मिलकर अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेगी तो मुसलिम उम्मीदवारो के साथ न्याय न हो सकेगा। संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली के भीतर ही इस आशंका को दूर करने का उपाय इसके पहले ही निकल आया था और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, स्विटज़रलैंड, बेलजियम, स्वीडिन, नार्वे आदि देशों के चुनावों मे उसका उपयोग भी हो रहा था। यह उपाय 'प्रपोर्शनल रिप्रेज़ेंटेशन' (आनुपातिक प्रतिनिधित्व) कहलाता है और भारत मे भी अल्प-संख्यक समुदायो की आशंका को निर्मूल करने के लिए इसका उपयोग किया जा सकता था। इसके द्वारा मुसलमानो को निश्चिन्तता अथवा संरक्षण की प्राप्ति हो जाती और साथ ही राजनीति मे पारस्परिक सहयोग का मार्ग खुल जाता। दूसरा उपाय यह भी था कि मुसलमानो के प्रतिनिधियो की संख्या तो निश्चित कर दी जाती, परन्तु चुनाव सब का सयुक्त निर्वाचन के द्वारा ही होता। सन् १९०६ या १९०९ में हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच जो राजनीतिक खाई थी, उसे पाट देना कठिन काम नही था। परन्तु १९०९ के शासन-विधान मे मुसलमानो की आशंका को दूर करने के लिए यही ठीक समझा

गया कि उनके लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था कर दी जाय।

पृथक-निर्वाचन-प्रणाली

लार्ड मार्ले ने, जिनका नाम १६०६ के सुधारो के साथ जुड़ा हुआ है, एक बार कहा था कि जिस बात का राजनीति मे गहरा असर पड़ता है उसका सभी क्षेत्रो मे गहरा असर पडेगा। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली के फल-स्वरूप भेदभाव को बढाने वाली शक्तियो तथा प्रवृत्तियो को बल मिला। धार्मिक पुनरुत्थानवाद का अब राजनीतिक पहलू भी तैयार हो गया। सयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली से आधुनिकता की शक्तियो का बल बढता और राष्ट्रीय उन्नति मे सहायता मिलती। परन्तु हुआ यह कि पुनरुत्थानवाद और पृथक निर्वाचन को एक दूसरे से बल मिला और जीवन के सास्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी क्षेत्रो मे पृथक्करण की प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिला। इसके परिणाम बड़े खेद-जनक हुए और एक दुःखात नाटक के घटनाक्रम की भाँति एक एक करके देश के सम्मुख आये। अगले ही वर्ष प्रयाग मे हिन्दुओ की एक सभा हुई और उसमे अखिल-भारतीय हिन्दू सभा की स्थापना का निश्चय हुआ। लोगों मे हिन्दुओ और मुसलमानों को दो विभिन्न राज-नीतिक समुदाय मानने की आदत चल निकली। मुसलमानो को अपनी सख्या के अनुपात से कुछ अधिक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार अवश्य मिल गया था, परन्तु इससे उन्हे जितना लाभ हुआ उससे अधिक हानि इस बात से हुई कि अब हिन्दू उम्मीदवारो को मुसलमान वोटरों से वोट नही माँगने थे और इसलिए उन्हे प्रसन्न या सतुष्ट रखने की आवश्य-कता नहीं थी। पृथक निर्वाचन के कारण दोनों ही समुदायो के लिए यह बात और भी कठिन हो गई कि वे अपने हिताहित को राष्ट्र के हिता-हित से एक कर दे। इसने उस नियत्रण को ढीला कर दिया जिसे सार्वजनिक हित को दृष्टि मे रखते हुए अपने समुदाय की इच्छाओ और

मांगो पर रखना सब के लिए अभीष्ट होता है। इनमें साम्प्रदायिक मत ने भिन्न लोकमत के विकास में बाधा उपस्थित हुई। जब प्रतिनिधियों के निर्वाचन में सहयोग के लिए स्थान नहीं रह गया तो फिर कौंसिलों तथा सार्वजनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी सहयोग अधिकाधिक कठिन होता गया। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली ने जो विष बोया था वह फैलता ही गया। सन १९१६ में यह कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच होने वाले समझौते को रोक तो नहीं सका, परन्तु हाँ, इसके कारण उसमें कठिनाई बहुत हुई। हिन्दू निर्वाचन क्षेत्रों में प्रायः राष्ट्रीयतावादियों की ही विजय होती रही, परन्तु इसका कारण यही था कि अल्प-सख्यक समुदाय की अपेक्षा बहु सख्यक समुदाय के लिए राष्ट्रीयता को ग्रहण करना कुछ सरल होता है। परन्तु हिन्दू निर्वाचन-क्षेत्रों में निर्वाचित होने वाले राष्ट्रीयतावादी लोगों को भी हिंदुओं की कुछ भावनाओं का ध्यान रखना पड़ता था, और इसके सिवाय राष्ट्रवादियों के साथ ही और बहुत सम्प्रदायवादी भी निर्वाचित हो ही जाते थे। मुसलिम निर्वाचन क्षेत्रों में सदा यह पुकार सुनाई देती थी कि हमारा धर्म, हमारी संस्कृति संकट में है और उनके सरक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में कुछ हिंदुओं में यह आवाज़ ज़ोर पकड़ने

असहयोग और खिलाफत

पिछले महायुद्ध के बाद की घटनाओं ने पृथक निर्वाचन के परिणामों को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया। महायुद्ध के बाद एक आदर्शवाद की लहर आई, तुर्क साम्राज्य का अंग-भंग होने के कारण मुसलमानों में नाराज़ी फैली, तुर्क लोग एशियाई होने के नाते हिन्दुओं को भी उनके साथ सहानुभूति थी, पंजाब में फौजी शासन के समय की घटनाओं से हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ही को नाराज़ी हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच १९१९-२२ में बड़ा आश्चर्यजनक ऐक्य दिखाई दिया। इस ऐक्य की एक उल्लेखनीय बात यह थी कि असहयोग के कार्यक्रम में और बातों के सिवाय एक बात यह भी थी कि सन् १९१९ में जारी होने वाली मान्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधार-व्यवस्था के अनुसार बनने वाली कौंसिलों का बहिष्कार किया जाय। इस बहिष्कार में पृथक निर्वाचनक्षेत्रों का बहिष्कार भी शामिल था। महात्मा गांधी और खिलाफत आन्दोलन के नेताओं ने लाखों-करोड़ों व्यक्तियों में, जिन्हें या तो अभी वोट देने का अधिकार मिला नहीं था या जिन्होंने उसका इस बार उपयोग नहीं किया था, नई राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न कर दी। नये सुधारों में जिन लोगों को पहली बार वोट देने का अधिकार मिला था उनमें छोटे-छोटे ज़मीदार, किसान, दूकानदार और अच्छी मज़दूरी पाने वाले मज़दूर थे। राजनीति में जो महत्वपूर्ण स्थान अब तक शिक्षित वर्ग का था, अब वह निम्न मध्य वर्ग का हो गया। अब तक नेतृत्व पाने के लिए शिक्षित वर्ग का समर्थन काफी होता था, अब निम्न मध्य वर्ग का, जो संख्या में उससे अधिक था, समर्थन प्राप्त करना आवश्यक हो गया। राजनीतिक जाग्रति का यह विस्तार एक महत्वपूर्ण घटना थी और इसके परिणाम-स्वरूप सार्वजनिक जीवन में कायापलट जैसे परिवर्तन हो गये।

जो लोग अपने राजनीतिक विश्वासो अथवा अब तक की आदतो के कारण अपने को इस नवीन परिस्थिति के अनुकूल नही बना सकते थे उन्हे या तो अपने छोटे-छोटे राजनीतिक दल बना लेने पड़े, या कार्य-कर्त्ता के बजाय परामर्शदाता का स्थान ग्रहण करना पड़ा और या सार्वजनिक जीवन से बिलकुल हट ही जाना पड़ा। शिक्षित वर्ग के बाक़ी लोगो ने उन नीतियो को ग्रहण कर लिया जो बड़े-बड़े नेताओ ने साधारण जनता को दृष्टि मे रख कर स्थिर की थी। भारी-भारी सार्वजनिक सभाएँ लोकमत की घोषणा करती रही और उनके उत्साह के कारण नेताओ मे कुछ स्वेच्छाचारिता भी आ गई। महात्मा गाधी के अनुयायी तो प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक समुदाय मे थे और देश से बाहर भी उनको श्रद्धाजलियाँ भेट हो रही थीं, जिससे उनकी स्थिति और भी सुदृढ़ होती जा रही थी।

राजनीतिक अपरिपक्वता

परन्तु राजनीतिक क्षेत्र के ये नवागंतुक अपरिपक्व थे। बहुत समय से उन्हें पराधीनता मे रहने और छोटी-छोटी बातों तक ही अपनी दिलचस्पी को महदूद रखने की आदत पड़ी हुई थी। राजनीतिक अपरि-पक्वता के दो ख़ास लक्षण ये हैं—अपनी राजनीतिक ज़िम्मेदारियो को पूरी तरह महसूस न करना और नेताओ की आज्ञाओं को चुपचाप शिरोधार्य कर लेना। ये दोनो लक्षण अनेक राष्ट्रों और जातियो के लोगों मे पाये गये हैं और इटली, जर्मनी और जापान के आधुनिक इतिहास मे तो बड़े ही स्पष्ट अक्षरों में चमक रहे हैं। थोड़ी-बहुत मात्रा मे तो ये सभी देशों के साधारण लोगों मे पाये जाते हैं। राजनीतिक परिपक्वता तो राजनीतिक शिक्षा अथवा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लंबे अनुभव से ही आती है। १६१८ के बाद भारत में जिस विशाल समुदाय ने पहली बार राजनीति मे दिलचस्पी लेना शुरू किया था उसके

लिए तत्काल राजनीतिक शिक्षा की आवश्यकता थी। परन्तु शिक्षा की व्यवस्था न तो सरकार ने ही की और न तत्कालीन राजनीतिक सस्थाओ ने ही। सरकार तो नौकरशाही ठहरी जो जल्द ही कोई परिवर्तन नही कर सकती। वह न तो साधारण शिक्षा को ही सब लोगो तक पहुँचा सकी और न यही कर सकी कि सब जगह छोटी और बड़ी परामर्शदात्री कमेटियो का जाल बिछा कर उनके द्वारा लोगो को राजनीतिक बातों का कुछ अनुभव करा देती। राजनीतिक नेता मुख्यतः आदोलनकर्त्ता ही थे और उनके लिए नये लोगो का राजनीतिक क्षेत्र मे पदार्पण करना प्रसन्नता का ही विषय था, क्योकि इससे उनके आदोलनो का बल बढना निश्चित बात थी। फलतः नये लोगो को जो राजनीतिक शिक्षा मिली उसका सम्बन्ध आदोलन के ढगो से अधिक था, उनकी जिम्मेदारियों से कम। राजनीति मे भाग लेने वाले लोगो की सख्या जितनी बढती है, नेताओ के लिए उन तक अपना सदेश पहुँचा सकना उतना ही सुगम हो जाता है।

राजनीति मे अध्यात्म

महात्मा गाधी ने राजनीति मे अध्यात्म का पुट दिया और मालूम होता है कि स्वयं उन पर भी अध्यात्म का रग अधिकाधिक चढता गया है। इससे हिन्दू जनता उनकी राजनीति की ओर आकर्षित ही नही हुई, वह जैसे मन्त्र-मुग्ध सी हो गई। महात्मा गाधी अपने धर्म पर दृढ रहते हुए अन्य धर्मो के प्रति उदार भाव तो रखते ही हैं, वे उनकी अच्छी बातो को ग्रहण करने को भी तैयार रहते हैं। उन्होने रसूल पाक और कुरान शरीफ की अनेक बार बड़ी प्रशसा की है। "मेरे सत्य के प्रयोग" नाम की अपनी आत्मकथा मे उन्होने यह भी बताया है कि ईसाई धर्म का, विशेषकर काउन्ट टाल्सटाय के द्वारा, उनपर कितना प्रभाव पड़ा है। फिर भी इसमे सदेह नही कि गाधीजी के अध्यात्म का मुख्य आधार

हिन्दू धर्म और जैन आचारशास्त्र है। अधिकारी विद्वानो का मत है कि सरल जीवन और चर्खे के आदर्शों में कोई बात ऐसी नही है जो इसलाम के प्रतिकूल हो। लेकिन बावजूद इसके इन आदर्शों का हिदू धर्म से ही कुछ रहस्यमय सम्बन्ध प्रतीत होता है। कम से कम इनकी बाबत यह तो कहा ही जा सकता है कि ये हिन्दू पुनरुत्थानवाद के अतर्गत ठीक बैठ जाते हैं और इसलिए राजनीति मे हिन्दुओ और अहिन्दुओ को एक दूसरे से अलग करने मे सहायक होते हैं। अहिंसा को नीति के रूप मे तो कोई भी ग्रहण कर सकता है, परतु उसका सभी परिस्थितियो मे मान्य धार्मिक सिद्धान्त के रूप मे प्रचार करने मे तो हिन्दू बल्कि जैन और बौद्ध धर्मो का ही प्रभाव दिखाई पड़ता है। विरोधी के हृदय पर प्रभाव डालने के लिए स्वयं ही कष्ट-सहन की बात भी कुछ ऐसी ही है। इस ऐतिहासिक घटना की ओर से आँखे बद नहीं की जा सकती कि हज़रत मुहम्मद को आत्मरक्षा के लिए युद्धो मे प्रवृत्त होना पड़ा था। राजनीतिक अहिंसावाद का प्रचार बढा और शीघ्र ही वह समय आ गया जब महात्मा गाधी की स्थिति एक सम्प्रदाय के संस्थापक जैसी हो गई और गाधीवाद के साथ पवित्रता की भावना जुड़ गई। ख़िलाफत आदोलन के कारण मुसलिम राजनीति मे भी धार्मिकता का रग पहले की अपेक्षा कुछ गहरा हो गया था पुनरुत्थानवाद की भाँति ही एक अध्यात्मवाद से दूसरे अध्यात्मवाद को प्रोत्साहन मिलता है और राजनीतिक सघर्ष मे धार्मिक संघर्ष भी आ मिलता है। इस अर्थ मे तो राजनीति को सदा आध्यात्मिकता की आवश्यकता रहती है कि सच्चाई, ईमानदारी, निस्स्वार्थता और मानवता के सिद्धान्तो का ध्यान रक्खा जाय। परन्तु यदि आध्यात्मिकता इस से आगे बढ़ती है तो फिर धर्म के नाम से सम्बन्धित सभी बाते राजनीति मे प्रवेश करने लगती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि लोग सब बातो मे अपने धर्म के सिद्धातो का पालन चाहने लगते हैं। जिस देश मे एक से अधिक धर्मों के अनुयायी

रहते हों, वहाँ यह स्थिति और भी खतरनाक होती है। यह हो सकता है कि यदि उन्हे ठीक से समझा जाय तो सभी धर्म मनुष्य और मनुष्य के बीच एकता का उपदेश देते हैं और धर्म के नाम पर होने वाले झगडे धर्म के विरुद्ध हैं, परन्तु इसका अधिक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इस दुनिया मे जब सभी बातो के सम्बन्ध मे गलतफहतियाँ चलती हैं तो धर्मों के ठीक से समझे जाने की ही कितनी सम्भावना हो सकती है?

अलग-अलग रास्ते

इस प्रकार द्वैध अध्यात्मवाद खतरे से खाली नही था। फिर भी अगर काग्रेस और मुसलिम लीग कौसिलों से असहयोग की नीति को जारी रख सकती, तो सम्भव था कि वे साम्प्रदायिकता से परे रहकर पारस्परिक सघर्ष से बच जाती। परन्तु घटनाक्रम ने दोनो को वैध आदोलन तथा कौसिल-प्रवेश के मार्ग पर लौट आने को वाध्य किया।। पृथक निर्वाचन-क्षेत्रो के साथ दो प्रकार के पुनरुत्थानवाद और दो प्रकार के अध्यात्मवाद के अस्तित्व ने राजनीतिक परिस्थिति को अत्यत जटिल बना दिया। अब तक काग्रेस देश की राजनीति पर अपना प्रभाव डालने और राष्ट्रीय आदोलन का नेतृत्व करने भर से संतुष्ट रही थी, परन्तु १९२३ की १ली जनवरी को उसके अंदर कौसिलो पर अधिकार करने का विचार रखने वाली स्वराज्य पार्टी बन गई। सितम्बर १९२३ में दिल्ली मे होने वाले अपने विशेष अधिवेशन मे काग्रेस ने कौसिल-प्रवेश का विरोध स्थगित कर दिया। नवम्बर १९२३ मे स्वराज्य पार्टी ने कौसिलों के चुनाव मे भाग लिया और तब मालूम हुआ कि वह देश में सब से बडा और सब से अधिक सुसगठित दल था। नवम्बर १९२४ मे कलकत्ते मे होने वाले समझौते के अनुसार स्वराज्य पार्टी काग्रेस की पर्लामेन्टरी शाखा बन गई और दिसम्बर १९२५ के काग्रेस के कानपुर

वाले अधिवेशन में वह अपना पृथक अस्तित्व खोकर कांग्रेस में ही निमज्जित हो गई। तब से सन् १९३०–३३ के सत्याग्रह के थोड़े से समय को छोड़कर कांग्रेस कौंसिलो सम्बन्धी कार्यों में प्रमुख रूप से भाग लेती रही है। इस क्षेत्र में उसकी सफलता ही उसे पृथक निर्वाचन और भेदवाद की राजनीति के भँवरजाल में घसीट लाई और लोगों को उसकी राष्ट्रीयता में संदेह करने का अवसर मिल गया। जब तक पृथक-निर्वाचन-प्रणाली में सुधार न हो जाता या हिन्दुओं की भाँति ही कांग्रेस मुसलमानों की भी प्रतिनिधि संस्था न बन जाती तब तक उसका निर्वाचन-क्षेत्र में उतरना बुद्धिमत्ता का कार्य था अथवा नहीं, इस प्रश्न पर विचार करना अब निरर्थक है। सीधा सादा निष्कर्ष यह है कि अब भेदवाद की राजनीति की शक्ति भी बढ़ गई और उसका क्षेत्र भी अधिक विस्तीर्ण हो गया। सन् १९०९ के सुधारों में जिन लोगों को कौंसिलों के चुनाव में वोट देने का अधिकार मिला था उनकी संख्या नगण्य थी, परन्तु १९१९ के मान्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अनुसार उनकी संख्या बढ़ कर सत्तर लाख हो गई थी।

खाई की चौड़ाई बढ़ी

सन् १८७६ में इंगलैंड में शासन-सुधार-होने पर राबर्ट लो ने कहा था कि हमें अपने मालिकों को शिक्षित बनाना चाहिए। परन्तु भारत में वोटरों को शिक्षित करने का महत्व कभी पूरी तरह महसूस नहीं किया गया। नये वोटरों को राजनीति में क़दम रखते ही पृथक निर्वाचन की विषैली प्रणाली के सम्पर्क में आना पड़ा। १९१९ में वोटरों की संख्या बढ़ने का फल यही हुआ कि १९१९-२२ का अल्प काल बीतते ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई और भी चौड़ी होने लगी। १९३५ में वोटरों की संख्या और भी बढ़ी, जिसके परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश भारत के ३॥ करोड़ से अधिक व्यक्ति भेदवाद की राजनीति के प्रभाव में आ

गये। यह भविष्यवाणी बिना सकोच के की जा सकती है कि अगर पृथक निर्वाचन के रहते हुए सभी वयस्क (बालिग) स्त्री-पुरुषो को वोट देने का अधिकार दे दिया जाय तो प्रत्येक नगर तथा हर एक गाँव मे हिन्दुओ और मुसलमानो का मनमुटाव तथा विरोध और भी बढ जायगा। बहुत से लोगो का यह विचार है कि जो हिन्दू और मुसलमान अभी तक राजनीतिक क्षेत्र के बाहर हैं और आपसी सद्भावना और शाति से रह रहे हैं उन्हे भी अगर वोट देने का अधिकार दे दिया जाय तो दोनो सम्प्रदायो के बीच समझौता होने मे आसानी हो जायगी, परन्तु ऐसा समझना भारी भूल है। इसी भ्रान्त धारणा के आधार पर यह भी कहा जाता है कि देश के भाग्य का निर्णय करने के लिए एक विधान सम्मेलन की आयोजना होनी चाहिए और उसके प्रतिनिधियो का निर्वाचन करने मे सभो वयस्क स्त्री-पुरुषो को भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। वोट के अधिकार से अब तक वचित रहने वाले लोगो को यह अधिकार मिलते ही, वे विवाद और उत्तेजना के उस वातावरण मे जा पहुँचेगे जिसे पृथक निर्वाचन ने उत्पन्न कर दिया है। यह बात भी न भुलानी चाहिए कि जिन विरोधो का नगरो मे श्रीगणेश होता है वे शीघ्र ही गाँवो मे भी जा पहुँचते हैं। नगरो का गाँवो पर आधिपत्य आधुनिक सभ्यता की एक विशेषता है। ब्रिटिश भारत मे ९० प्रतिशत से अधिक लोग देहातो मे रहते हैं, लेकिन १० प्रति सैकडा से कम नगर-निवासियो का उनपर भारी प्रभाव है। मताधिकार को सभी वयस्क स्त्री-पुरुषो तक पहुँचा देने से यह लाभ अवश्य हो सकता है कि निम्न स्तर के लोगो मे भी आत्म सम्मान की भावना जाग्रत होगी, उन्हे राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलेगा, लोकहित के कार्यों के लिए देश के सारे बुद्धि-बल और नैतिक बल का सहयोग प्राप्त हो जायगा तथा शासन सम्बन्धी मामलो की बाबत सभी वर्गों के विभिन्न दृष्टिकोणों का पता लग जायगा। परन्तु इसी लिए उस निर्वाचन-प्रणाली

मे मुक्ति प्राप्त करने का उपाय खोज निकालना और भी आवश्यक हो जाता है जो किसी भी देश मे भीषण गृह-कलह उत्पन्न कर देने की क्षमता रखती है। और किसी भी देश के नागरिको में राजनीतिक उत्तरदायित्व की भावना उतनी विकसित नही हो पाई है जितनी इगलैंड के नागरिको मे। परन्तु यदि इंगलैंड मे भी कैथलिक, प्राटिस्टेन्ट, प्रेस्बीटीरिअन, नान-कन्फ़र्मिस्ट, आदि विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के लिए अलग-अलग निर्वाचन की प्रणाली जारी कर दी जाय तो एक पीढ़ी के अदर घोर विरोध की भावनाएँ उत्पन्न हो जायँगी। इसी प्रणाली को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे जारी कर दो और देखो कि यूरोप की सभी जातियों और राष्ट्रो से जो लोग वहाँ जाकर बसे हैं वे संसार के इस सब मे महान प्रजातंत्र को शीघ्र ही अपनी रणभूमि बना लेते हैं या नही।

तीसरा अध्याय

राजनीति और शासन-शक्ति

टालमटूल की नीति

सन् १६१६ के भारतीय शासन-विधान के सम्बन्ध मे पार्लमेन्ट से जो कानून पास हुआ था, उसकी बाबत यह कहा गया था कि हर दसवे साल जाँच होकर शासन-विधान मे सशोधन होता रहेगा। परन्तु उसके द्वारा प्रान्तों मे जिस द्वैध शासन-प्रणाली की स्थापना हुई वह १६३७ तक जारी रही और केन्द्रीय शासन के लिए जो व्यवस्था की गई वह दो तीन परिवर्तनो के साथ आज तक चल रही है। सन् १६२७ मे साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई जिसका कार्य १६३० तक चलता रहा। फिर १६३०, १६३१ और १६३२ मे लन्दन मे कान्फरेन्से हुई जो राउन्ड टेबिल (या गोल मेज) कान्फरेन्से कहलाती हैं १६३३ मे ब्रिटिश मन्त्रिमडल का पार्लमेन्टरी वाइट पेपर (श्वेत पत्र) प्रकाशित हुआ, फिर भारतीय विधान सम्बन्धी बिल पर विचार करने के लिए पार्लमेन्टरी जौइन्ट कमेटी अर्थात् कामन्स सभा और लार्ड सभा के चुने हुए सदस्यो की सयुक्त कमेटी बनी जिसने १६३३ और १६३४ मे बिल की धाराओं पर विचार करके उनमे आवश्यक हेरफेर किये। इस सब के बाद सन् १६३५ मे पार्लमेन्ट से भारतीय शासन-विधान सम्बन्धी कानून पास हुआ। इस पुस्तक के विषय को देखते हुए यहाँ इन बातो की सविस्तर चर्चा करना आवश्यक नही है। इस विधान की प्रान्तीय शासन सम्बन्धी धाराएँ सन् १६३७ मे जारी कर दी गई। केन्द्रीय शासन के सम्बन्ध मे इस विधान के अनुसार ब्रिटिश भारत के प्रान्तो तथा देशी राज्यो की

फ़ैडैरल अर्थात् संघ-सरकार बनने को थी, परन्तु ऐसा हो नही सका। कारण यह था कि सरकार ने इस सम्बन्ध मे अधिक उत्साह नही दिखाया, भारतीय नरेश इसके इच्छुक नही थे, और मुसलिम लीग तथा काग्रेस भी इसका विरोध कर रही थी, यद्यपि दोनो के विरोध के कारण अलग-अलग थे। न तो इंगलैंड ही मे और न भारत ही मे किसी व्यक्ति अथवा दल ने ऐसी राजनीतिज्ञता का परिचय नही दिया कि या तो इन मतभेदों के बीच सामजस्य स्थापित करा देता और नही तो उन्हे अपने ही ढंग से हल कर देता। सच बात तो यह है कि सन् १६२६ से १६३६ तक ब्रिटेन मे जो मन्त्रिमडल रहे उन्हे यूरोप के मामलो मे ही इतनी कम सफलता हुई—न तो वे शान्ति की रक्षा करने ही मे समर्थ हुए और न ब्रिटेन को सैनिक दृष्टि से ही शक्तिशाली बना सके—कि उनसे यह आशा ही नही की जा सकती थी कि वे छः हज़ार मील की दूरी पर स्थित भारत की समस्या को हल कर सकने योग्य समझदारी और दूर-दर्शिता का परिचय दे सकेगे। अगर व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो मालूम होगा कि १६२६–१६३२ की आर्थिक मदी के समय से ब्रिटिश साम्राज्य के सभी मामलो में ब्रिटिश सरकार की नीति को कही सफलता नहीं मिली और भारत की सभ्यता का हल न हो सकना भी इसी असफलता का अग है।

विचित्रताएँ और कठिनाइयाँ

समस्याओ को दृढ़तापूर्वक हल करने के बजाय उन्हे चलते रहने देने की नीति के फल-स्वरूप राजनीतिक परिस्थिति में कई जटिल विचित्रताएँ उत्पन्न हो गई हैं। ब्रिटिश सरकार ने सन् १६१७ मे यह घोषणा की थी कि उसकी नीति भारत मे क्रमशः उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना है। तब से पच्चीस वर्ष से अधिक का समय बीत चुका, परन्तु अभी तक न तो पूर्ण रूप से उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना ही हो

पाई है और न वह घोषणा रद्द ही की गई है। सन् १९३० में उसने भारत के लिए सघ-सरकार कायम करने के पक्ष मे अपना निर्णय दिया। तब से तेरह वर्ष बीत चुके, परन्तु सघ-सरकार अब भी वाद-विवाद का ही विषय बनी हुई है। महायुद्ध का प्रारम्भ होने पर तो यह टालमटूल की नीति पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब कि १९३५ के विधान की केन्द्रीय शासन सम्बन्धी धाराओ को मानो भुला ही दिया गया। यह सच है कि जुलाई १९४१ मे और फिर अगस्त १९४२ मे वायसराय की कार्यकारिणी समिति मे भारतीय सदस्यो की सख्या बढा दी गई, जिसके फल-स्वरूप आज भारत-सरकार मे वायसराय को लेकर कुल १६ सदस्य हैं जिनमे ११ भारतीय सज्जन हैं। परन्तु भारत-सरकार आज भी लैजिस्लेटिव असेम्बली अर्थात् जनता के प्रतिनिधियो के प्रति अपने कार्यो के लिए उत्तरदायी नही है, इसलिए वास्तविक स्थिति मे तो कोई अतर नही पड़ा है। मार्च १९४२ मे सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने ब्रिटिश सरकार की ओर से कुछ नये प्रस्ताव पेश किये, मार्च और अप्रैल १९४२ मे भारतीय नेताओ तथा विभिन्न राजनीतिक दलों की कार्य-समितियों ने दिल्ली मे इन पर विचार किया। उन्हे ये प्रस्ताव स्वीकार करने योग्य नही मालूम हुए और ब्रिटिश सरकार ने उन्हे वापस ले लिया। इतने लम्बे समय तक राजनीतिक प्रगति रुकी रहने के परिणाम-स्वरूप अगस्त १९४२ मे वे घटनाएँ घटी जिन्हे भारत-सरकार के होम मेम्बर ने विद्रोह के नाम से पुकारा। शाति स्थापित हो जाने पर श्री राजगोपालाचार्य ने यह इच्छा प्रकट की कि वे जेल मे महात्मा गाधी से मिले और फिर इगलैंड जा कर समझौता कराने की कोशिश करे। परन्तु सरकार ने न तो उन्हे महात्मा से मिलने की इजाज़त दी और न इगलैंड जाने की सुविधा। १३ नवम्बर को दिल्ली से एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमे कहा गया था कि "मि० राजगोपालाचार्य की मि० गाधी से मिलने की प्रार्थना पर जो निर्णय अभी हाल मे किया गया था, वह

भारत-सरकार की सोच-विचार कर निर्धारित की गई नीति का द्योतक है।" १७ नवम्बर को पार्लीमेन्ट मे किये गये एक प्रश्न का भारत-मंत्री ने यह लिखित उत्तर दिया कि ब्रिटिश सरकार "मि० राजगोपालाचार्य के इस देश को आने मे कोई लाभ नही देखती।"

१० फरवरी, १९४३ से महात्मा गाधी ने तीन सप्ताह का उपवास किया। ब्रिटिश सरकार चाहती तो महात्मा गाधी तथा काग्रेस के अन्य नेताओं को जेल से छोड़ देने के लिए इस अवसर का उपयोग कर सकती थी, लेकिन उसने ऐसा नही किया। इसके कुछ ही समय बाद अमरीकन राष्ट्रपति के प्रतिनिधि मि० विलिअम फिलिप्स ने गाधीजी से मिलना चाहा, तो उन्हे भी मिलने की इजाज़त नहीं दी गई। इसके बाद महात्मा गाधी ने मुसलिम लीग के अध्यक्ष मि० जिन्ना को एक छोटा सा पत्र लिख कर भारत सरकार से उसे मि० जिन्ना तक पहुँचा देने की प्रार्थना की, परंतु यह प्रार्थना भी अस्वीकार कर दी गई। २६ मई को नई दिल्ली से भारत-सरकार का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमें कहा गया था—"मि० गाधी से पत्र-व्यवहार या भेट होने देने के सम्बन्ध मे भारत-सरकार की जो नीति है उसके अनुसार उसने निश्चय किया है कि मि० गाधी का पत्र मि० जिन्ना को नहीं भेजा जा सकता। मि० गाधी और मि० जिन्ना को इस बात की सूचना दे दी गई है। जिस व्यक्ति को एक ग़ैर-क़ानूनी जन-आन्दोलन को प्रोत्साहन देने के कारण नज़रबंद किया गया है, जिसने उस आदोलन का विरोध न करके चिंताजनक समय मे भारत की युद्ध की तैयारी मे भारी बाधा डाली है, उसे राजनीतिक पत्रव्यवहार या भेट की सुविधा देने को भारत-सरकार तैयार नही है। मि० गाधी चाहे तो भारत-सरकार को इस बात का आश्वासन दे सकते हैं कि उन्हे देश के राजनीतिक मामलो मे फिर से भाग लेने देने में कोई ख़तरा नही है। जब तक वे ऐसा नही करते तब तक उन पर जो बधन लगे हुए हैं उनकी ज़िम्मेदारी उन्ही पर है।"

इसके अगले दिन भारत-मंत्री ने पार्लीमेन्ट की कामन्स सभा मे कहा कि मि० गाधी और काग्रेस के दीगर नजरबद नेताओ पर मुकदमा चलाने का भारत-सरकार का कोई इरादा नही है।

साराश यह कि सन् १६२७ से भारतीय शासन-विधान को ले कर वाद-विवाद चल रहा है। इतना लम्बा वाद-विवाद ससार के किसी भी देश मे पुराने मतभेदो और विरोधो को उग्रतर बना देगा और नये झगड़े पैदा कर देगा। जो घाव जल्द ही भर सकते हैं, देर होने से विषैले हो जाते हैं। विभिन्न दलो की परस्पर-विरोधी माँगो को सुनते-सुनते लोगो की चिता और आशका बढने लगती है। राजनीति मे फ्रायड के मत के विरुद्ध ऐलफ्रैड ऐडलर का यह मत अधिक युक्तिसंगत मालूम देता है कि मानसिक विचित्रता या अस्वस्थता का कारण भूतकाल से नही भावी आशकाओं से सम्बन्धित होता है। इसके सिवाय जिन आशाओ की पूर्ति की सम्भावना रही हो, उनकी पूर्ति न होने से लोगों मे निराशा का उदय होना स्वाभाविक ही है। सन् १६३० से अब तक की भारतीय राजनीति मे मनोवैज्ञानिक अस्वस्थता की झलक बहुत स्पष्ट दिखाई देती है। भविष्य के सम्बन्ध मे ऐसी आशका उत्पन्न हो गई है कि कोई नेता अथवा दल जो कुछ भी कहता या करता है, उसे दूसरे नेता अथवा दल सदेह की दृष्टि से देखते हैं।

उत्तरदायित्व की भावना की कमी

सन् १६३०-१६३१ मे ब्रिटिश सरकार, देशी नरेशो, काग्रेस और मुसलिम लीग के बीच समझौते की सम्भावना दिखाई पड़ती थी। परन्तु तब से ज्यो ज्यो समय बीतता गया है त्यो त्यों समझौता होना भी कठिन होता गया है। टालमटूल की नीति ने भारतीय शासन-विधान की सभी बातों को विवादग्रस्त बना दिया है और सभी के

मन में अस्थिरता ला दी है। जो लोग राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से पुनर्निर्माण की दिखावटी आयोजनाएँ तैयार करते हैं और अच्छे से अच्छे भाव पर सौदा पटाने के लिए पग-पग पर अपनी माँगे बढ़ाते चले जाते हैं उनके लिए अनत काल तक चलने वाला वाद-विवाद बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। टालमटूल के परिणाम-स्वरूप माँग बढ़ाते रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला और अब इन दोनो के बीच अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। उत्तर-दायित्व की भावना और मेल की इच्छा, इन दोनो की शक्ति क्षीण हो गई है।

राजनीतिक दलो के विकास मे बाधा

केन्द्र मे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना मे विलम्ब होने के फल-स्वरूप राजनीतिक दलों के विकास मे भी बाधा उपस्थित हुई है। राजनीतिक स्वतन्त्रता एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। जो भावनाएँ मनुष्य जाति मे उत्साह का सञ्चार कर सकी हैं उनमे एक यह भी है। जब एक बार यह प्रश्न उठ खड़ा होता है तो जब तक इसका निपटारा न हो जाय तब तक यह टल नहीं सकता। जब तक राजनीतिक शक्ति भारतीय जनता के हाथों मे नहीं आ जाती तब तक देश मे एक ही बड़े राजनीतिक दल के लिए स्थान है—और यह दल वही होगा जो मौजूदा सरकार से किसी न किसी तरह युद्ध जारी रक्खे। उसकी स्वतन्त्रता की पुकार मे ऐसी शक्ति होगी कि कोई दूसरा दल उसके मुकाबले मे नहीं टिक सकता। किसी दूसरे दल के लोगो मे चाहे जितनी ही योग्यता, बुद्धिमत्ता और समझदारी क्यो न हो, परन्तु उसके विरोध मे वे देश के बहुसंख्यक समुदाय या सम्प्रदाय का तो समर्थन प्राप्त नहीं कर सकेंगे। प्रान्तीय तथा स्थानीय निर्वाचनों मे भी राजनीतिक स्वतन्त्रता का प्रश्न आये बिना नहीं रहेगा और वहाँ भी इसके लिए

युद्ध करनेवाले दल की विजय होगी। दूसरी ओर, शासन-शक्ति के बँटवारे को ले कर मुसलमानो का एक दल बनने लगेगा ताकि वह ब्रिटिश सरकार और हिन्दुओं दोनो का ही सामना कर सके। और जब तक शक्ति मिल नही जाती तब तक उसका बँटवारा हो कर यह झगड़ा दूर नही हो सकता। इस प्रकार स्वराज्य के असली प्रश्न के निर्णय मे विलम्ब होने के फल स्वरूप भारतीय राजनीति शासन-शक्ति के लिए झगड़ने वालो का अखाड़ा बन गई है—ब्रिटिश सरकार शक्ति का त्याग करने मे अनिच्छा से कार्य कर रही है, नरेशगण यह चाहते हैं कि सघ सरकार मे शामिल होने की वजह से उनके अब तक के अधिकारो मे कोई कमी न हो, राष्ट्रवादी दल समस्त शक्ति को हथिया लेने के लिए उत्सुक है, मुसलिम लीग मुसलमानो के लिए अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त कर लेने को प्रयत्नशील है, हिंदू महासभा का ध्यान हिन्दुओ के अधिकारों पर लगा हुआ है और अल्प-सख्यक समुदाय, जिनकी सख्या बढती जाती है, अपने-अपने लिए अपनी जन-सख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व माँगने मे लगे हुए हैं। ऐसे वातावरण मे वास्तविक राजनीतिक दलों का—आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रमों को लेकर बनने वाले दलो का—विकास नही हो सकता। शक्ति के लिए चलने वाले सघर्ष के फल-स्वरूप विभिन्न समुदायो के ही दल बन गये हैं और राजनीतिक क्षेत्र मे कार्य करने की अभिलाषा रखने वालों को इच्छा अथवा अनिच्छा से इन्ही मे सम्मिलित हो जाना पडता है। कार्यकर्त्ताओ की स्थिति तूफान मे पडे हुए मल्लाहो जैसी हो गई है जिन्हे लाचार हो कर आँधी के रुख़ के मुताबिक ही अपनी नाव खेनी पड़ती है। मुसलिम कार्यकर्त्ता यह अनुभव करता है कि मुसलिम लीग के बाहर उसके लिए कार्यक्षेत्र नही है। अगर हिन्दू कार्यकर्त्ता के लिए किसी कारणवश काग्रेस मे सम्मिलित होना सम्भव न हो तो फिर वह हिन्दू महासभा का ही आश्रय ले सकता है। दो-तीन शक्तिशाली सस्थाएँ

बन गई हैं जो पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता में अपने-अपने अनुयायियों पर ऐसे कड़े बन्धन लगा रही हैं कि जो भी उनकी किसी बात से मतभेद प्रकट करे वही विरोधी समझा जाने लगता है। इस प्रकार राजनीतिक दलों के विकास में ऐसी बाधा उत्पन्न हो गई है कि आर्थिक तथा अन्य प्रश्नों को उनका उचित महत्व नहीं प्राप्त हो रहा है।

पार्लमेन्टरी परम्परा का पालन

इस पृष्ठभूमि को मद्दे-नज़र रखते हुए अब हम उन विचारों तथा प्रगतियों पर विचार करेंगे जिन्होंने १९३७ से अब तक के समय में भारतीय राजनीति को उसकी वर्तमान अवस्था में पहुँचा दिया है। १९३७ के चुनाव में कांग्रेस ने छः प्रान्तों में विजय प्राप्त की और उन छहों प्रान्तों में, और कुछ ही महीने बाद सीमाप्रान्त के सातवें प्रान्त में भी, उसने शुद्ध कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों का निर्माण किया। उसने मुसलिम लीग के साथ मिल कर संयुक्त मन्त्रिमंडल बनाने से इनकार किया, जिसके दो कारण मुख्य थे—एक तो पार्लमेन्टरी परम्परा का पालन और दूसरे उसकी यह आशा कि अपने कार्यक्रम के द्वारा वह मुसलिम जनता को कांग्रेस के झंडे के तले ले आवेगी। अंग्रेज़ जाति ने जहाँ-जहाँ भी पार्लमेन्टरी ढंग के लोकतन्त्र की स्थापना की है वहाँ-वहाँ एक-एक दल के मन्त्रिमंडलों का ही रिवाज रहा है। संयुक्त मन्त्रिमंडल कभी-कभी ही बने हैं और उनका अनुभव उत्साहवर्द्धक सिद्ध नहीं हुआ। "इंगलैंड को संयुक्त मन्त्रिमंडल से प्रेम नहीं" यह उसके प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डिज़रेली का कथन है। भारत में संयुक्त मन्त्रिमंडल बनाने में यह आशंका थी कि शायद किसी मामले में गवर्नर से मतभेद होने पर वह एक स्वर से न बोल सकेगा। यह भी सम्भव था कि महायुद्ध में भाग लेने या न लेने जैसे आंग्ल-भारतीय प्रश्न पर उसके सब सदस्य इस्तीफा देने को सम्मत न होते। कांग्रेस के सम्मुख मुख्य ध्येय ब्रिटिश साम्राज्यवाद से

युद्ध करने का था, इसलिए वह अपने सगठन मे किसी प्रकार की ढील नही आने देना चाहती थी और सयुक्त मत्रिमडल बनाने का अर्थ होता इस प्रकार का ढील आ जाने देना। उसके अदर यह भावना कार्य कर रही थी कि जब तक पूर्ण स्वतत्रता की प्राप्ति नही होती तब तक जनता का एक ही राजनीतिक दल हो सकता है, वह दल काग्रेस है, वह अन्य दलो को अपने मे आत्मसात कर सकता है परतु किसी दल के साथ सधि करके मिल नही सकता। इसके सिवाय काग्रेस देश का सुधार भी करना चाहती थी, और उसे यह आशका थी कि सयुक्त मत्रिमडल बनाने से उसके ग्राम-सुधार, मद्य-निषेध, आदि के कार्यक्रम मे कमजोरी आ जायगी। पार्लामेन्टरी परम्परा के पालन की धुन मे काग्रेस के नेता यह भूल गये कि एक दल वाला सिद्धान्त राजनीतिक आन्दोलन के सम्बन्ध मे भले ही ठीक हो, परन्तु देश मे क्रान्ति हुए बिना मत्रिमडलो के सम्बन्ध मे लागू नही हो सकता। सन् १६३७ मे काग्रेस ने कौसिलो से बाहर रहने की नीति को छोड कर शासन-भार वहन करने की नीति ग्रहण की थी। यह एक भारी परिवर्तन था, जिसके फल स्वरूप राजनीतिक शक्तियो का पुनर्विभाजन आवश्यक था। उस समय देश एक सकट-काल से गुजर रहा था और सकट-काल मे इगलैड ने भी, उदाहरणतः सन् १६१५, १६३१ और १६४० मे, सयुक्त मत्रि-मडल बना कर सकट पर विजय प्राप्त की है। एक दल का शुद्ध मत्रि-मडल वास्तव मे तभी चल सकता है जब देश मे दो ही प्रमुख तथा स्थायी राजनीतिक दल हो। इस प्रकार की दो दल वाली राजनीतिक प्रणाली को केवल अग्रेज जाति ही निभा सकी है—वह भी बीच-बीच मे झटके खा कर—और इसके कई कारण है। अग्रेज जाति मे कर्तव्य-पालन की भावना बडी प्रबल है, वह आवश्यक और अनावश्यक बातों को एक दूसरे से अलग रखना जानती है, तेरहवी शताब्दी से प्रारम्भ होकर उसका राजनीतिक विकास क्रमशः धीरे-धीरे हुआ है, और उसके

यहाँ सार्वजनिक जीवन के विषय में कुछ विशेष परम्पराएँ प्रचलित हो गई हैं। फ्रान्स आदि जिन देशों में पार्लामेन्टरी शासन-प्रणाली बिना क्रम-विकास के उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई, उनके यहाँ अनेकानेक राजनीतिक दल रहे और मंत्रिमंडलों का निर्माण भी कई-कई दल मिल कर करते रहे। इन देशों में मंत्रिमडलों को जल्दी-जल्दी इस्तीफे भी देने पड़े पार्लामेन्टों का कभी-कभी जल्दी-जल्दी निर्वाचन कराना पड़ा, सरकारों की स्थिति जितनी चाहिए उतनी दृढ़ नहीं हुई, दीर्घकालीन नीति निर्धारित होने मे बाधाएँ उपस्थित हुई और वोटो का क्रय-विक्रय भी हुआ। फिर भी यह प्रणाली बहुत समयतक काम देती रही और जब सन् १९४० मे बुरी तरह असफल सिद्ध हुई तो इस नाकामयाबी की वजह उसकी शक्ति से बाहर की बातें थी।

यह स्पष्ट है कि सन् १९३७ मे भारत के प्रान्तो मे शुद्ध तथा सयुक्त, दोनो ही प्रकार के मंत्रि मडलों से कुछ लाभ की भी सम्भावना थी और कुछ हानि की भी। कुल मिला कर संयुक्त मन्त्रिमंडल ही ज़्यादा ठीक रहते। उनके द्वारा सभी प्रमुख दलों को कार्य करने का अवसर मिल जाता और उनके लिए लोकहितकारी कार्यों मे सहयोग प्रदान करने मे आसानी हो जाती। बहुमत के अनुसार कार्य हो, यह कोई आचारशास्त्र का सिद्धांत नहीं है, केवल नीतिमत्ता का एक नियम है, और इसलिए इसका अर्थ सदा इस प्रकार लगाना चाहिए कि अल्पमत वाले भी सहमत हो सकें। परतु उस समय काग्रेस के निर्णय मे पार्लामेन्टरी परम्परा वाली बात की ही जीत रही और काग्रेसी प्रान्तों मे मुसलिम लीग को शासन-शक्ति के उपयोग में सहयोग दे सकने के अवसर से वञ्चित रहना पड़ा।

आर्थिक पहलू का महत्व आँकने मे भूल

कांग्रेस के नेताओं ने मुसलिम लीग के साथ मिल कर संयुक्त मंत्रि-मडल बनाने से तो इनकार किया था, परंतु इसका मतलब यह नहीं था

कि वे मुसलमानो को शासन-शक्ति मे हिस्सा लेने देना न चाहते हो। उनका विचार यह था कि उनके आर्थिक कार्यक्रम के फलस्वरूप मुसलिम जनता उनके दल मे खिंच आवेगी और इस प्रकार एक देशव्यापी राष्ट्रीय दल बन जायगा जो धार्मिक तथा साम्प्रदायिक भेदो से ऊपर होगा। कांग्रेसी मार्क्सवादी अर्थात् कम्यूनिस्ट तो नही थे, परतु बहुत से समाजवादियो की भाँति उन पर मार्क्स की इतिहास सम्बन्धी उस भौतिकवादी विचारधारा का प्रभाव था जिसने कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) को समाज सम्बन्धी विचारो पर प्रभाव डालने वालो मे चार्ल्स डार्विन का समकक्ष बना दिया है। मार्क्स ने सन् १८४८ मे फ्रेडरिक ऐंगिल्स के साथ मिल कर "कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो" नामक पुस्तिका प्रकाशित की थी जो आज भी कम्यूनिस्ट मत की सब से अच्छी और प्रामाणिक व्याख्या है। इसके बाद मार्क्स ने ब्रिटिश सग्रहालय के पुस्तकालय मे बैठ कर बीस वर्ष के घोर परिश्रम के पश्चात् "कैपीटल" (पूँजी) नामक ग्रथ तैयार किया। इसमे यह मत प्रतिपादित किया गया है कि आर्थिक पहलू, बल्कि उत्पादन का ढग ही विकास का मूलाधार है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सामाजिक तथा राजनीतिक सगठन, कानून, आचारशास्त्र, कला, साहित्य आदि सभी का विकास आर्थिक प्रवृत्तियों के फल-स्वरूप होता है। बहुत बाद को ऐंगिल्स ने कहा था कि उन्होने और मार्क्स ने आर्थिक पहलू को अत्यधिक महत्व देने मे भूल की थी। दार्शनिक दृष्टि से आर्थिक प्रभाव को समाज पर प्रभाव डालने वाली आपस मे मिली-जुली कई बातो से अलग करके एक पृथक प्रवृत्ति अथवा शक्ति के रूप मे स्वीकार करना ही भूल था। कई-कई कारणो से उत्पन्न होने वाले परिणाम को किसी एक कारण का परिणाम बताने की कमज़ोरी मार्क्सवाद मे अन्य "वादो" की अपेक्षा अधिक मात्रा मे है। आर्थिक पहलू को ही सब कुछ मान लेने का परिणाम यह हुआ है कि विवेक, कल्पना तथा भावनाओ को, धर्म, जाति

तथा परम्परा के प्रभाव को, उचित महत्व नही दिया जा सका। मार्क्स-वाद की विचारधारा इतनी संकीर्ण है कि लेनिन यद्यपि पहले उसे अक्षरशः मानते थे, परतु जब रूस की शासन-शक्ति उनके हाथ मे आ गई तो उन्हे कई अहम मामलो मे उससे हटना पड़ा। भारत मे इस बात को विशेष रूप से याद रखने की आवश्यकता है कि कार्ल मार्क्स के मत की जो अनेक व्याख्याएँ की गई थी उनसे स्वय मार्क्स ही चक्कर मे पड़ गये थे और एक बार उन्हे यहाँ तक कह देना पड़ा था कि मै मार्क्सवादी नहीं हूँ। यह बात भी याद रखने की है कि समाजवाद तथा कम्यूनिज़्म (मार्क्सवाद) की विचारधारा का यूरोप मे, वहीं के अनुभव के आधार पर विकास हुआ है और वह उससे भिन्न वातावरण मे अन्यत्र ज्यो की त्यो लागू नही होती। भारत मे समाजवाद के मूल सिद्धान्त—साधारण जनता को सुख-सुविधा तथा सस्कृति की दृष्टि से उच्चतम स्तर पर पहुँचाने के सिद्धान्त को कैसे लागू किया जाय, इस सम्बन्ध मे अभी किसी ने इतना भी नही किया कि यहाँ की परिस्थिति का अध्ययन करके बीस वर्ष न सही बीस महीने ही किसी बड़े पुस्तकालय मे बैठ कर इस तरह की आयोजना तैयार करता जो यहाँ के समाज, कृषि तथा उद्योग-धन्धो को दृष्टि मे रख कर बनाई जाती। यही कारण है कि पिछले पच्चीस बरस मे भारत में समाजवाद ने इतनी कम उन्नति की है और उसके सम्बन्ध मे ऐसे-ऐसे भ्रम फैले हुए हैं जिनमे भारी हानि हो सकती है। इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि भारत के नेताओ का भविष्य मे समाजवाद के प्रति सहानुभूति का भाव रहेगा, और यदि उसके सिद्धान्तो और उसकी कमज़ोरियों को ठीक तरह से समझ नहीं लिया गया तो हानि की सम्भावना रहेगी। मार्क्सवादियो की भाँति आर्थिक पहलू का अत्यधिक महत्व स्वीकार कर लेने का ही यह परिणाम था कि कांग्रेस के नेताओ ने यह मान लिया कि जब वे जनता से उसके आर्थिक हित की बात कहेगे तो वह उसके सामने धर्म, सस्कृति

या राजनीतिक अधिकार की बात करने वालों की एक न सुनेगी।

धर्म बनाम लोकहित

भारतीय राजनीतिज्ञो को सन् १९३७ मे धर्म और लोकहित के बीच बडी सतर्कता से मार्ग स्थिर करना था। बड़ी कठिन परीक्षा थी। एक ओर धर्म को राजनीति मे उसका उचित महत्व प्रदान करना और दूसरी ओर सार्वजनिक जीवन को जहाँ तक सम्भव हो इसी लोक के हिताहित तक सीमित रखना तलवार की धार पर चलने के समान था। यह ऐसा कार्य था जैसे दो परस्पर-विरोधी बातों के बीच सामंजस्य स्थापित करना। इन सब के ऊपर थी पृथक-निर्वाचन-प्रणाली की त्रुटियाँ। कौंसिलो मे क़ानून पास करानेवाले हिंदू नेता मुसलिम निर्वाचको की विचारधारा से पूरी तरह परिचित नही थे। हिंदू राजनीतिज्ञों को मुसलमानों की नाराजगी की उतनी अधिक चिन्ता नहीं थी जितनी उनका निर्वाचन हिंदू और मुसलमान दोनो वोटरों के द्वारा होने की हालत मे होती। पृथक निर्वाचन के ही कारण यह सम्भव हुआ कि काग्रेस के नेताओ ने पार्लामेन्टरी परम्परा को महत्व दे कर शुद्ध काग्रेसी मत्रिमडल बनाने का निर्णय किया और कम्यूनिस्ट सिद्धान्त के भ्रम मे पड कर साधारण मुसलिम जनता को अपने पक्ष मे कर लेने का प्रयत्न किया। यह वास्तव मे उनकी भूल मात्र थी, परतु राजनीतिक शक्ति के लिए चलने वाले सघर्ष के फल-स्वरूप जो वातावरण उत्पन्न हो गया था उसमे दूसरे पक्ष ने छोटी बात को बडा बना कर इस बात का यह अर्थ लगा लिया कि काग्रेस ने हिंदू राज्य स्थापित करने का दृढ निश्चय कर लिया है।

सार्वभौम-इसलामवाद

पार्लामेन्टरी परम्परा के प्रति अपनी पुरानी प्रीति और समाजवाद

या कम्यूनिज़्म के प्रति अपनी नई सहानुभूति के फल-स्वरूप कांग्रेस ने मुसलिम लीग को अपना विरोधी बना लिया। इसी प्रकार मुसलिम लीग को सार्वभौम-इसलामवाद के प्रति जो पुरानी प्रीति थी और यूरोप के अल्पसख्यक समुदायो की राजनीति से उसने जो नई शिक्षा ग्रहण की, उनके फल-स्वरूप वह कांग्रेस की घोर शत्रु बन गई। इसलाम दुनिया भर के मुसलमानो के भाई-भाई होने पर जोर देता है। सार्वभौम-इसलामवाद का अर्थ है ससार भर के मुसलिम राष्ट्रो अथवा मुसलमानो के बीच सधि अथवा सहयोग अथवा एकता। इसलिए देखने मे यह इसलाम के धार्मिक सिद्धान्त का राजनीतिक पहलू मालूम देता है। इतिहास पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि जब आठवी शताब्दी मे इसलाम तीन महाद्वीपो (एशिया, अफ्रीका और यूरोप) मे फैल गया था तभी ख़िलाफत की राजनीतिक एकता को क़ायम रखना कठिन हो गया था। तेरहवी शताब्दी मे मगोलो ने ख़िलाफते-अब्बासिया को ऐसा धक्का पहुँचाया कि वह उससे कभी न सँभल सकी। परंतु सारी इसलामी दुनिया के लिए ख़लीफा के रूप मे एक अध्यक्ष की आवश्यकता है, यह विचार फिर भी जीवित रहा और कुस्तुनतुनिया स्थित तुर्क सुलतान ख़लीफा मान लिये गये। तीन सौ वर्ष बाद आमद-रफ्त और व्यापार की नई सुविधाओ का विकास होने से ख़िलाफत के विचार को एक नवीन जीवन तथा स्फूर्ति की प्राप्ति हो गई। इसी के आधार पर सुलतान अबदुल हमीद द्वितीय (१८७६-१९०८) सार्वभौम-इसलामवाद के नेता बने और इसी की बिना पर टर्की के नेताओ ने १९१४-१९१८ के महायुद्ध मे अपने ससार भर के सहधर्मियो की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। मुस्तफा कमाल पाशा ने टर्की को एक राष्ट्र का स्वरूप दिया और उसकी जनता मे आधुनिकता का सचार किया और इसके साथ ही १९२४ मे ख़िलाफत का ख़ातमा कर दिया। लेकिन ख़िलाफत के ख़ातमे के साथ उसके विचार का अंत नही हो

गया। दो साल बाद काहिरो (मिस्र) मे एक खिलाफत कान्फरेन्स हुई जिसमे एक भारतीय प्रतिनिधिमडल भी मोजूद था और जिसमे इस बात की कोशिश हुई कि सब मुसलिम राष्ट्रो का एक सघ हो और उसके अध्यक्ष एक खलीफा हो। यह प्रयत्न असफल रहा, परतु इसके बाद की भी एक और घटना उल्लेखनीय है। वह यह है कि ३० जनवरी, १९३९ को काहिरो के एक हजार बरस पुराने दारुल-उलूम (विश्व-विद्यालय) अल अजहर के शेखो ने यमन के अमीर हुसैन और सऊदी अरब के अमीर फैजल तथा अमीर खलीद की उपस्थिति मे यह प्रस्ताव किया था कि मिस्र-नरेश फरुख को मुसलिम जगत का खलीफा बना दिया जाय।

सार्वभौम-इसलामवाद के मार्ग मे कठिनाइयाँ

ससार भर के मुसलिम राष्ट्रो का एक सघ बनाने का विचार सैकडो वर्ष से पूरा नही हो सका और आज आमद-रफ्त की नई सुविधाएँ हो जाने पर भी उसकी पूर्ति के मार्ग मे बाधाएँ उपस्थित हैं। सब से बडी बाधा यह है कि मुसलिम राष्ट्रो के बीच रेगिस्तान और पहाड़ हैं जिनके कारण वे भौगोलिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न देश बन गये हैं जिनके आर्थिक हिताहित एक नही है। एक और बाधा यह है कि मुसलिम देशो के निवासी कम से कम तीन स्पष्ट जातियो मे बँटे हुए हैं—अरब, तुरानी या तुर्क और आर्यन या ईरानी। मिस्र और अफ़ग़ानिस्तान के बीच भाषाएँ भी कम से कम चार हैं—तुर्की, अरबी, फारसी और पश्तो। मुसलिम जगत अधिकतर सुन्नी सम्प्रदाय का अनुयायी है, उसके बीच मे स्थित ईरान शिया सम्प्रदाय का। सन् १९१८ मे अरब लोगो की आकाक्षाओ का सार्वभौम-इसलामवाद की भावना से सतोष नही हुआ और उनके अलग हो जाने के फल-स्वरूप तुर्क साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। हाल के बरसो मे टर्की मे, और कुछ हलके तौर पर

ईरान मे भी, अरब संस्कृति के विरुद्ध एक लहर उठी है। दूसरी ओर, अरबी भाषा भाषी प्रदेशो मे अपना एक सघ बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया है। इधर टर्की और मिस्र म राष्ट्रीयता तथा लौकिकता की भावनाओं मे जो वृद्धि हुई है वह सार्वभौम-इसलाम-वाद की धार्मिक भावना की विरोधिनी ही है। फिर मुसलिम राज्यो की अन्तर्राष्ट्रीय मित्रताएँ भी एक सी नही रही हैं, इस कारण भी उनका एक सघ बन सकना बड़ी कठिन बात रही है। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के कुछ साल पहले टर्की, ईरान और अफग़ानिस्तान के बीच एक समझौता हुआ था जो सादाबाद का समझौता कहलाता है, परंतु वह एक वास्तविक सधि के रूप मे परिणत नही हो सका।

सार्वभौम-इसलामवाद का आकर्षण

बावजूद इन सब रुकावटो के सार्वभौम-इसलामवाद की गणना उन आदर्शों मे करनी होगी जो राष्ट्रवाद और विश्ववाद के बीच की वस्तु हैं। एक ओर वह मुसलमानो के दृष्टिकोण को विस्तीर्ण करता है, उनकी मानवता का विकास करता है। जब इस शताब्दी मे मिस्र मे स्वतंत्रता का आन्दोलन उठा, जब सन् १९०७ में ईरान ने अपने देश को ब्रिटेन और रूस के हस्तक्षेप से मुक्त करने के लिए उन शक्तिशाली राष्ट्रो का विरोध किया, जब पिछले महायुद्ध के पश्चात् टर्की के साम्राज्य का अंग-भंग हुआ, जब १९२१ से फिलस्तीन के अरबो ने अपने को राजनीतिक और आर्थिक ख़तरो से बचाने की कोशिश शुरू की, और जब १९३९ मे इटली ने अलबानिया की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया—तब-तब भारत के मुसलमानो मे अपने सह-धर्मियो के प्रति सहानुभूति की लहर पैदा हुई। यह सोचने मे कि हिंदु-स्तान से बाहर ऐसे देश हैं जहाँ के निवासी मुसलमान हैं और जो

हिंदुस्तान की तरह पराधीन न होकर आजाद है, अगर भारत के मुसलमानों को कुछ सतोष होता है और उनके हृदय मे आत्मगौरव तथा आत्मसम्मान की भावना उदय होती है तो यह स्वाभाविक ही है। यह तो एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह है कि अपने देश से बाहर के लोगो के प्रति अपनेपन की भावना भारत के मुसलमानो की राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावना को कमजोर कर देती है। एक समय "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा" की पक्ति से प्रारम्भ होने वाले देशभक्तिपूर्ण तथा लोकप्रिय गीत की रचना करने वाले सर मुहम्मद इकबाल ने सार्वभौम-इसलामवाद के समर्थक बन जाने के बाद घोषणा की थी कि देशभक्ति की भावना इसलाम की आत्मा के विरुद्ध है, क्योकि इसलाम का सिद्धान्त तो यह है कि मुसलमान, चाहे वे किसी भी जाति या देश के हो, सब भाई-भाई हैं। मुसलमानो की देशभक्ति की भावना कमजोर पड जाने से उनका शक्ति के लिए चलने वाले सघर्ष की ओर खिंच आना—यानी यह सोचने लगना कि उन्हे अधिक से अधिक राजनीतिक शक्ति पर अधिकार करने और अधिक से अधिक प्रदेशो को अपने नियत्रण मे लाने की कोशिश करनी चाहिए—आसान हो जाता है। यह विचारधारा उन्हे कहाँ तक ले जा सकती है, इसकी मिसाल एक हाल ही मे प्रकाशित पुस्तिका से मिलती है जिसके लेखक ने उस पर अपना नाम न देकर अपने को "पजाबी" कहा है। इस पुस्तिका मे यह मत प्रकट किया गया है कि जिसमे कई धर्मों के लोग हो ऐसा राष्ट्र इसलाम के सिद्धान्तो के अनुकूल नही है, धर्म और राजनीति के बीच अटूट सम्बन्ध होने के कारण मुसलमानो को अपना पृथक राष्ट्र बनाना चाहिए ताकि वे इसलामी राजनीति का विकास कर सके। इसके बाद लेखक को इस बात का ध्यान आता है कि जब सारा ससार इसलामी रास्ते पर नही चलता तो उसके बीच इसलामी आदर्शों का पालन करने वाले राष्ट्रो के लिए अपने सिद्धान्तो का अधिक समय तक निर्वाह करना

कठिन हो जायगा। इसलिए उसका विचार है कि "हमे ससार को इसलाम के रास्ते पर लाने के लिए विश्व-क्राति का उपाय सोचना होगा।"

संरक्षण-प्रणाली की यूरोप मे असफलता

भारत मे विभिन्न समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धो को ले कर जो वाद-विवाद चल रहा था, उस पर यूरोप मे चलने वाले इसी प्रकार के विवादों का प्रभाव पड़ना लाज़मी ही था। उन्नीसवी शताब्दी मे राष्ट्र-वाद ने यूरोप मे बड़ा उग्र रूप धारण किया, जिसके फल-स्वरूप एक ओर तो राष्ट्रो ने अल्प-सख्यक समुदायो को आत्मसात कर लेने की कोशिश की, और दूसरी ओर अल्प-संख्यक समुदायो मे जातीयता की भावना ने बल पकड़ा और इस प्रकार एक गभीर समस्या उठ खड़ी हुई। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस बात की कोशिश की गई कि अल्प-सख्यक समुदायो की रक्षा के लिए उनके देशो के शासन-विधानों मे तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियो मे उनके नागरिक और राजनीतिक अधिकारो के सम्बन्ध मे संरक्षणों की व्यवस्था कर दी जाय। इस व्यवस्था के प्रति भारत मे भी सहानुभूति की भावना का उदय हुआ, परन्तु थोड़े से वर्षों के भीतर ही यह व्यवस्था यूरोप मे ही असफल सिद्ध हो गई। जातीयता की भावना और राष्ट्रवाद के उत्साह का यह परिणाम हुआ कि अल्प-संख्यक लोग अपने देशवासियो की अपेक्षा निकटवर्ती देशो के सजातीय लोगो के प्रति निजत्व का अनुभव करने लगे और उन देशो के कर्णधार इन लोगों के प्रदेशो को अपने देश मे मिला लेने का प्रयत्न करने लगे। सधियो मे परिवर्तन कराने के भी प्रयत्न हुए और एक देश के अन्दर दूसरे देश के लोगो के द्वारा षड्यन्त्र भी रचे गये। इस प्रकार कई देशों मे बहु-संख्यक तथा अल्पसख्यक समुदायों के बीच विरोध की भावना बढी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी गुत्थियाँ उलझी। मध्य तथा पूर्वीय यूरोप मे संरक्षण-प्रणाली की असफलता देख

कर अन्य देशो के निवासियो का भी उस पर से विश्वास उठ गया। इन अवाछनीय घटनाओ का असली कारण यह था कि लोगो ने राष्ट्रीयता का ठीक-ठीक अर्थ नही समझा और न यही समझने की कोशिश की कि राष्ट्र और जाति (कौम) समानार्थक शब्द नही हैं। अल्पसख्यक समुदायो के आदोलनो की उग्रता बढती गई, वे अपनी शिकायतो का इजहार करने और उनसे मुक्ति पाने के लिए कडे-कड़े उपाय सोचने लगे। सन् १६३७-१६३६ के बीच भारत के मुसलमानो ने हिन्दुओ के विरुद्ध जो शिकायते और माँगे पेश की हैं वे उन शिकायतों और माँगों से बहुत मिलती-जुलती है जो सन् १६३८-३६ मे सीरिया के अल्पसख्यक ईसाइयों तथा शिया मुसलमानो ने वहाँ के बहु-सख्यक सुन्नी मुसलमानो के विरुद्ध की थी।

सूडेटन जर्मनो का उदाहरण

हिंदुस्तान को दो टुकड़ो मे बाँट देने की वकालत करने वालो की बातो और चैकोस्लोवेकिया के सूडेटन जर्मनो के आदोलन के ढगो के बीच तो और भी अधिक सादृश्य है। चैकोस्लोवेकिया मे जर्मनो की सख्या २३॥ प्रतिशत थी, और ये लोग मुख्यतः बोहेमिया, मोरेविया तथा साइलेसिया के प्रान्तो मे बसे हुए थे। बहुत समय तक ये देश के शासन मे पहले की अपेक्षा अधिक भाग प्राप्त करने के लिए आदोलन करते रहे। परतु जब जर्मनी मे नाज़ी पार्टी ने अपना यह आदर्श बनाया कि जर्मनी से बाहर के जर्मन भी जर्मन राष्ट्र के अन्तर्गत होने चाहिएँ तब सूडेटन जर्मन पार्टी, जिसके नेता हैनलीन थे, सन् १६३३ से और १६३५ से और भी स्पष्ट रूप से यह चाहने लगी कि जर्मनी और चैकोस्लोवेकिया के बीच की सीमा मे रद्दोबदल होनी चाहिए। चैकोस्लोवेकिया की सरकार से, विशेष कर सन् १६१८ के बाद ही के वर्षों मे, कुछ ग़लतियाँ जरूर हुई थी, परतु कुल मिला कर अपने अल्प-सख्यक समुदायो के प्रति उसका व्यवहार यूरोप की किसी भी दूसरी सरकार की तुलना

में अच्छा ही था। लेकिन बावजूद इस बात के अब सूडेटन जर्मनों ने उस पर अन्यायों और अत्याचारो के अभियोग लगाना शुरू कर दिया और इन इलज़ामो को साबित करने के लिए उन्होंने कोई सबूत पेश नहीं किये। इसके बाद तो यूरोप के सभी अल्प संख्यक समुदायो ने यह हल्ला मचाना कि उन पर अत्याचार हो रहा है अपने आदोलन का एक अंग बना लिया। चैक सरकार ने अपने जर्मन नागरिको को नई सुविधाएँ और रिआयते देना चाहा, परतु सूडेटन पार्टी उनको अस्वीकार करती हुई अपनी माँगे बढ़ाती गई। २४ अप्रैल १९३८ को कार्ल्सबाद मे भाषण करते हुए हैनलीन ने अपनी पार्टी की ओर से आठ बातों की घोषणा की। इस भाषण मे उन्होने पहले तो इसी बात का खंडन किया कि चैकोस्लोवेकिया एक राष्ट्र है और सूडेटन जर्मन उसके अतर्गत एक अल्प-सख्यक समुदाय हैं। फिर उन्होंने ये माँगे पेश की कि सूडेटन जर्मनो और चैक लोगों की स्थिति बराबर की मानी जाय, समस्त जर्मनों को सामूहिक रूप से एक माना जाय, जर्मन प्रदेश के निवासियो को जीवन के प्रत्येक विभाग मे स्वाधीनता रहे और उन्हे यह घोषणा करने की पूरी स्वतंत्रता हो कि वे जर्मन विचारधारा के समर्थक हैं। ७ जून को उन्होंने चैक सरकार को एक पत्र लिखा (जो १९ जुलाई तक अप्रकाशित रहा) जिसमे उन्होंने यह माँग पेश की थी कि चैकोस्लोवेकिया को उसके निवासियो की जातीयता के अनुसार प्रदेशो में विभाजित किया जाय, प्रत्येक प्रदेश को अपने आन्तरिक मामलो मे स्वतत्रता रहे और जो मामले केन्द्रीय सरकार के हाथ मे रहें उनका निर्णय करने मे इन प्रदेशों को बराबरी का अधिकार मिले। अंत मे सूडेटन जर्मनों ने होमरूल (स्थानीय स्वराज्य) का प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया और अक्टूबर १९३८ में जर्मनी, फ्रान्स और ब्रिटेन की सहायता तथा स्वीकृति से सूडेटनलेंड चैकोस्लोवेकिया से अलग हो कर जर्मनी का प्रदेश बन गया। परतु इसके बाद भी चैकोस्लोवेकिया का

प्रसग समाप्त नही हुआ। सूडेटनलैंड निकल जाने के बाद बाक़ी चैकोस्लोवेकिया भौगोलिक दृष्टि से अरक्षित हो गया। सब जर्मन एक राष्ट्र के अग हो, इस प्रकार मे साम्राज्यवाद की भावना छिपी हुई है। मार्च १९३९ मे नाज़ी जर्मनी ने स्लोवेक प्रान्त को छोड़ कर बाक़ी चैकोस्लोवेकिया को हड़प लिया और इस प्रकार वर्तमान महायुद्ध की तैयारी शुरू हो गई। अब चैक देशभक्त यह आशा करते हैं कि वर्तमान महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर चैक लोगों की एकता और स्वतन्त्रता की पुनः स्थापना हो जायगी। चाहे उन्हे किसी सघ राज्य मे सम्मिलित होना पड़े, परतु उसके अदर उन्हे आत्मसम्मानपूर्ण तथा समानता का स्थान मिलना चाहिए।

चैकोस्लोवेकिया की घटनाओ का भारत पर प्रभाव

चैकोस्लोवेकिया की घटनाओ के फल-स्वरूप सितम्बर १९३८ मे यूरोप मे युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना उत्पन्न हो गई थी और मार्च १९३९ मे तो सब को इस बात का विश्वास हो गया था कि अब महायुद्ध हो कर ही रहेगा। ये सब घटनाएँ समाचारपत्रो मे नियमित रूप से प्रकाशित हुई थी और भारत मे भी तथा अन्य देशो मे भी लोगों ने उनका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था। १९३६-३८ के बीच सूडेटन जर्मनों ने जिस प्रकार पहले यह माँग पेश की थी कि उन्हे शासन मे और अधिक भाग मिलना चाहिए, फिर यह दावा पेश किया था कि वे अल्प-सख्यक समुदाय नही बल्कि एक क़ौम हैं, फिर चैकोस्लोवेक लोगो को एक क़ौम मानने से इनकार किया था, फिर बिना सबूत के अन्याय और अत्याचार की आवाज उठाई थी, फिर सीमाओं मे रद्दोबदल की बात उठाई थी और अत मे यह माँग पेश की थी कि उनके प्रान्त को स्वतंत्र कर दिया जाय और जो अधिकार केन्द्रीय सरकार के हाथ मे देना आवश्यक ही समझा जाय उसमे उन्हे ५० प्रतिशत हिस्सा दिया जाय—इन पर

अगर विचार किया जाय तो मुसलिम लीग के सन् १६३६-४२ के प्रस्तावों में भी इन सब बातों की स्पष्ट छाया देख पड़ेगी। सच तो यह है कि कुछ बातों में तो सूडेटन जर्मनों तथा मुसलिम लीग की शब्दावली भी एक सी ही मिलेगी।

प्रान्तों का पुनर्विभाजन

भारत की हाल की घटनाओं में एक बात उसके प्रान्तों का पुनर्विभाजन भी है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यह मालूम होने लगा था कि प्रान्तों की सीमाओं में स्थिरता आ गई है और वे टिकाऊ साबित हो सकेंगी, परन्तु इसके बाद ही पुनर्विभाजन की क्रिया प्रारम्भ हो गई जो बहुत से लोगों के विचार से अभी समाप्त नहीं हो पाई है। लार्ड कर्ज़न ने सन् १६०१ में सीमाप्रदेश में एक नया प्रान्त बना दिया और १६०५ में बंगाल के अहाते को, जो वास्तव में बहुत बड़ा था, दो प्रान्तों में विभाजित कर दिया। बंग-भंग के विरोध में जो आंदोलन चला उसका असर हुआ और सन् १६१२ में पूर्वीय भारत में प्रान्तों का पुनर्निर्माण होने के साथ ही दिल्ली को भारत की राजधानी बना कर उसे एक पृथक प्रान्त भी बना दिया गया। बहुत से लोगों ने यह विचार प्रकट किया कि अगर प्रान्तों का भाषाओं के आधार पर पुनर्निर्माण हो जाय तो पार्लामेन्टरी शासन-प्रणाली को कार्यान्वित करने में सुविधा हो जायगी। कांग्रेस ने अपने संगठन के सम्बन्ध में इस प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया। सन् १६३७ तक सिंध और उड़ीसा का क्रमशः बम्बई तथा बिहार के प्रान्तों से पृथक्करण हो चुका था। आंध्रदेश, मराठी मध्य प्रान्त, हिन्दुस्तानी मध्य प्रान्त (महाकोशल) तथा केरल प्रदेश भी अलग-अलग प्रान्त बन जाने के लिए उत्सुक थे। सन् १६३५ में भारतीय विधान के सम्बन्ध में पास होने वाले क़ानून में भारत के लिए एक संघ-सरकार की स्थापना की बात कही गई थी और इसकी बाबत यह मालूम

देता था कि इस मे सम्मिलित होने के लिए छोटे-छोटे देशी राज्यों के गुट्ट बन जायँगे । चूँकि समस्या हल होने के बजाय वाद-विवाद चलता ही जा रहा है, इसलिए ऐसी हालत मे पृथक्करण मे ही अपनी रक्षा देखने वालो को अगर प्रान्तीय पुनर्विभाजन की और भी आयोजनाएँ सूझे तो कोई आश्चर्य की बात न होगी ।

तानाशाही मनोवृत्ति

भारतीय राजनीति की प्रवृत्ति तथा धारा पर विदेशी बातो का प्रभाव पड़ने के सम्बन्ध मे हम पार्लमेन्टरी परम्परा, समाजवाद की विचारधारा, सार्वभौम-इसलामवाद तथा यूरोपीय अल्प-सख्यको के आदोलनों का उल्लेख कर चुके हैं । इनके सिवाय कुछ और बातों का भी प्रभाव पडा है । पिछले पच्चीस वर्षो मे यूरोप के अधिकाश राष्ट्रों मे राजा या पार्लमेन्ट के अधिकार उन लोगो के हाथो मे आ गये हैं जिन्हे सर्वेसर्वा या तानाशाह कहा जाता है । इसका कारण कुछ तो सैनिकवाद अथवा उग्र राष्ट्रवाद है, कुछ समुदाय विशेष की महत्वाकाक्षा, कुछ राष्ट्र की समस्त शक्ति का उपयोग करके उसे शक्तिशाली बनाने की इच्छा और कुछ शीघ्रतापूर्वक उन्नति-पथ पर अग्रसर होने की अभिलाषा । पर्लमेन्टरी शासन-प्रणाली मे बहुमत वालों के मार्ग मे बाधाएँ डाल सकने की इतनी सुविधाएँ हैं कि सुधार की चाल धीमी पड़ जाती है, इसलिए शीघ्र उन्नति चाहने वालों को सर्वेसर्वा का ढग आकर्षक दिखाई पड़ता है । तानाशाहो का उदय आधुनिक संसार की एक महत्वपूर्ण घटना है । सोवियट रूस, प्रजातत्र टर्की, फासिस्ट इटली, नाज़ी जर्मनी आदि देशो की प्रवृत्तियो मे अनेक बातों का अन्तर रहते हुए भी सब मे तानाशाहों के आधिपत्य का स्थापित हो जाना निस्सदेह एक ऐसी घटना है जिसकी ओर भारत तथा अन्य देशो के लोगों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था । उसका थोडा-बहुत अनुकरण

होना भी लाज़मी था। भारतीय वातावरण में तानाशाही नेतृत्व के अनुकूल कुछ बातें मौजूद भी थीं। आधुनिक युग की तानाशाही राजनीतिक दलों की तानाशाही है जिसका आधार उन दलों की यह भावना है कि उनकी विचारधारा का पूरी तरह पालन किया जाय और उनके सदस्य पूरी तरह आज्ञाओं का पालन करें। भारत में सन् १९१९ से राजनीतिक क्रियाशीलता का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाने और उसमें अल्प-सख्यक शिक्षित वर्ग के अतिरिक्त बहु-सख्यक जन-समुदाय के सम्मिलित हो जाने के फल-स्वरूप नेताओं के लिए तानाशाही ढगों से काम लेना पहले की अपेक्षा आसान हो गया है। राजनीतिक दल अब अधिक सुसगठित हो गये हैं, परन्तु साथ ही उनकी शक्ति चंद नेताओं के हाथों में जाने लगी है। वे जब चाहें तब सरकार या दूसरे दलों के साथ समझौते की बातचीत शुरू कर सकते हैं और जब चाहें तब उसे खतम कर सकते हैं। वे कौंसिलों और उनके निर्वाचकों के अस्तित्व की उपेक्षा करके मत्रिमडलों पर अपना नियत्रण रखने की कोशिश कर सकते हैं। वे अपने दल के कार्यकर्त्ताओं को, निश्चित कार्यक्रम से इधर-उधर करने पर, दण्ड दे सकते हैं। वे अपने लोगों को फटकार लगा सकते हैं या दल से बाहर निकाल सकते हैं और दूसरों को युद्ध के लिए आमन्त्रण दे सकते हैं। व्यक्तियों का महत्व इतना बढ़ गया है कि यदि वे समझदारी, बुद्धिमत्ता, उदारता अथवा निस्स्वार्थता में चूक जायँ तो उनकी इस कमज़ोरी के फल-स्वरूप भारी तथा व्यापक हानि हो सकती है।

तानाशाही कार्यक्रम

यूरोप के तानाशाहों का अपने-अपने देश के मनुष्यों तथा साधनों पर अधिकार है। वे बड़े-बड़े कार्यक्रम तैयार करते हैं और भारी भारी काम उठाते हैं। वे यूरोप और सारे ससार की कायापलट कर देने की

बात करते हैं। वे देशो की पुरानी सीमाओं को बदल देने की कोशिश करते हैं। भारत के भी कुछ राजनीतिज्ञ यूरोप के दृष्टान्तों से प्रभावित हो कर अब केवल सुधार और उन्नति के कामो के द्वारा जनता की प्रशसा प्राप्त करने की कल्पना से सन्तुष्ट नही होते। वे बडे-बडे मनसूबे बाँधने लगे हैं। वे समाज के जीवन को बिलकुल बदल देने, पुरानी राजनीतिक सीमाओ को तोड देने और नये-नये राष्ट्र अथवा सघ अथवा साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषाएँ रखते हैं।

आधुनिक प्रोपेगेंडा

तानाशाही मनोवृत्ति वालो को लोकतन्त्र प्रणाली की निंदा करने अथवा हँसी उड़ाने मे बडा आनद मिलता है। परन्तु आज की तानाशाही के प्रोपेगेंडा मे साधारण जनता को उत्तेजित अथवा उत्साहित करने और प्रसन्न रखने की जो कोशिश रहती है, वह इस बात का प्रमाण है कि उसकी दृष्टि मे लोकमत को अपने साथ रखना कितना महत्वपूर्ण है। पार्लामेन्टरी प्रणाली का आधार विवेक और तर्क हैं, इस प्रकार की बातो मे जनता का विश्वास जितना ही घटता है उतना ही तानाशाही का बल बढता है। तानाशाही का प्रोपेगेंडा (प्रचार-कार्य) करने वाले समाचारपत्रों और सभा-मचो का उपयोग करने के साथ ही पर्चों और पुस्तिकाओ के अतिरिक्त ऐसी पुस्तके भी निकालते रहते हैं जो साधारण व्यक्ति को बडी विद्वत्तापूर्ण मालूम देती हैं। इन सब की सहायता से वे अपने अनुकूल लोकमत तैयार करते हैं और लोगो पर ऐसे सिद्धान्त लादते रहते है जो उनके लिए, सुविधाजनक हो। फलस्वरूप यूरोप के आधुनिक राजनीतिक क्षेत्र मे ऐतिहासिक तथा दार्शनिक कही जाने वाली बातो की बड़ी छीछालेदर हुई है और जाति, धर्म, सस्कृति, कौमियत, आर्थिक सघर्ष अथवा वर्ग विशेष के आधिपत्य के आधार पर पुनर्निर्माण करने का दावा करने वाली कच्ची और

अपरिपक्व आयोजनाओ की भरमार हो गई है। परिवर्तन के इस सकट-काल में यूरोप मे—विशेष कर मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्रों में—अनगिनती विभिन्न स्वर सुनाई पडते हैं। यूरोप का जीवन परस्पर-विरोधी बातों, नये-नये प्रयोगो और पुराने प्रयोगो की पुनरावृत्तियो से ओतप्रोत है। जो लोग उस पर दृष्टि रखते समय अपने विवेक को सदा जाग्रत न रक्खेगे या सदा इस बात को याद न रक्खेगे कि चमक-दमक वाली सभी वस्तुएँ सुवर्ण नही होती, भारी धोखा खा जायँगे।

मुसलिम-सम्पर्क आंदोलन

विभिन्न देशो की बातो और घटनाओ का एक दूसरे पर कैसा प्रभाव पडता रहता है, इसका यह एक दृष्टान्त है कि भारतीय राजनीतिक क्षेत्र की हाल की घटनाओं में देश और विदेश के विचारो तथा आंदोलनों की छाया दिखाई पड़ती है। यदि हम इन्हे ध्यान में रक्खेगे तो भारत की हाल की राजनीतिक धारा को समझने मे आसानी होगी। जुलाई १९३७ मे काग्रेसी मन्त्रिमडल बने। काग्रेस ने जिस कार्यक्रम के आधार पर चुनाव जीता था वह मुख्यतः आर्थिक था और किसानो और मज़दूरो की भलाई को दृष्टि मे रख कर बनाया गया था। महात्मा गाधी तो नही परन्तु कुछ अन्य नेताओ की दृष्टि समाजवाद पर भी लगी हुई थी। केन्द्र मे संघ-सरकार की स्थापना सम्बन्धी प्रस्तावो पर अनेक ओर से आक्रमण हुए थे, फिर भी निकट भविष्य में उसके स्थापित हो जाने की आशा की जाती थी और वहाँ भी काग्रेसी मंत्रिमंडल बन जाने की सम्भावना थी। काग्रेसी सरकार के समर्थको का क्षेत्र बहुत संकुचित न रहे, इसलिए मुसलिम जनता को राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक सुधार के कार्यक्रम के आधार पर काग्रेस की ओर खीचने के लिए मुसलिम-सम्पर्क आदोलन का विचार उठा।

मुसलिम लीग के सामने यह स्थिति आ गई कि वह बहुत समय तक कई प्रान्तों मे भी और केन्द्र मे भी शासन-शक्ति के उपयोग मे भाग न पा सकेगी। काग्रेस के बडे नेताओ ने अपने दल को जैसा सुसगठित कर रक्खा था उसे देखते हुए इस बात की भी आशा नहीं की जा सकती थी कि काग्रेसी दल टूट कर उसमे दो या दो से अधिक दल बन जायँगे और मुसलिम लीग उनमे से किसी एक के साथ सहयोग करके सयुक्त मत्रि मडल बना सकेगी। और अब काग्रेस साधारण मुसलिम जनता को अपनी ओर खीचने की आयोजना के द्वारा तो मुसलिम लीग की जड़ ही काट देने की कोशिश कर रही थी। यह सच है कि काग्रेस उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने का आश्वासन दे रही थी, लेकिन मनुष्य केवल रोटी खा कर जीवित रहना ही तो नही चाहता।

भविष्य की आशका

इस प्रकार १६३७ मे मुसलिम मस्तिष्क भविष्य की आशका से चिंतित हो उठा। काग्रेस के कतिपय प्रतीको ने उसकी आशका को और भी बढा दिया। जहाँ काग्रेसवादियो का बहुमत था वहाँ वे कुछ ख़ास इमारतो पर काग्रेसी झडा लगवाना तो चाहते ही थे, कौसिलो के अधिवेशनों के प्रारम्भ के समय वे सस्कृत-गर्भित भाषा के "बदेमातरम्" का गाया जाना भी आवश्यक समझते थे। कुछ समय के पश्चात मध्य प्रान्त की काग्रेसी सरकार ने मुसलमानों के विरोध की अवहेलना करके एक विशेष कोटि के विद्यालयो को "विद्यामदिर" नाम देने का हठ किया। यह शब्द सस्कृत का तो था ही, मूर्ति पूजा के विरोधियों को "मदिर" शब्द से ख़ास तौर पर चिढ हो सकती है। काग्रेसी मत्रिमडल की इस आयोजना को रोकने के लिए मुसलमानों ने निष्क्रिय प्रतिरोध का सहारा लिया, तब जा कर उसने अपना विचार बदला। मुसलमानों को इस बात से नाराज़ी थी कि हिन्दू क्रमशः उर्दू को छोड़ते जा रहे हैं।

जब सयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त और बिहार के कुछ प्रमुख नेताओ ने उर्दू से भिन्न हिन्दी की वकालत की तो उनकी आशंका और भी बढ गई। बहुत से मुसलमान काग्रेसी लोगो को हिन्दू-मुसलमानों की सभाओं मे भी संस्कृतमयी हिन्दी मे भाषण करते सुन कर चौके। मुसलिम लीग मे यह भावना बढने लगी कि बहु संख्यक समुदाय अल्प सख्यक समुदायों को संतुष्ट रखने की परवाह नही करता। उसकी स्वयं अपनी देश-भक्ति की भावना तो क्षीण हो रही थी और सम्प्रदायवाद की भावना ज़ोर पकड़ रही थी, इसलिए जहाँ भी मतभेद की गुजाइश होती थी वहाँ उसे मुसलिम संस्कृति का दमन करने तथा हिन्दू राज्य स्थापित करने का प्रयत्न दिखाई पड़ने लगता था। जब किसी समुदाय की भावनाओ का आदर नही किया जाता और शासन तथा अधिकारो के उपयोग मे उसे अपना वाजिबी हिस्सा नही मिलता, तो वह समग्र राष्ट्र के हिताहित के सम्बन्ध में उदासीन ही नहीं हो जाता, वह राष्ट्र का अंग-भंग करके भी बहु-सख्यक समुदाय से अलग हो जाने की बात सोचने लगता है। जिस बात से भी उसके आत्मसम्मान को धक्का लगता है और उसे यह भान होता है कि उसके अपने विचारो और भावनाओ का कोई महत्व नही है, उससे या तो अनैक्य की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और या विद्रोह की प्रवृत्ति को।

मुसलिम लीग विरोधी दल के रूप में

जब सन् १९३७ मे छः प्रान्तीय कौसिलो मे मुसलिम लीग को मत्रिमडल के विरोधी दल का स्थान ग्रहण करना पड़ा और मत्रि-मडलो के मुसलिम सदस्यो की बाबत यह घोषणा करनी पड़ी कि वे मुसलमानो के प्रतिनिधि नही है, तब एक चिताजनक परिस्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। विभिन्न राजनीतिक दलो का अस्तित्व पार्लामेन्टरी शासन-प्रणाली का एक आवश्यक अग है। लोकतंत्र और तानाशाही मे यही

तो वास्तविक अतर है कि एक मे विभिन्न दलो के लिए स्थान है और दूसरे मे नही। लोकतत्र प्रणाली मे विभिन्न राजनीतिक दलों के फल-स्वरूप सभी प्रस्तावो पर वाद विवाद हो कर सब बाते जनता के सम्मुख आती रहती हैं और मंत्रिमडलो मे हेरफेर भी होते रहते हैं। परन्तु जब विभिन्न दलो के बीच राजनीतिक विचारों का नहीं बल्कि जाति और धर्म का अतर हो तो उनके वाद-विवादो के फल-स्वरूप मनुष्य के हृदय मे दबी रहने वाली सारी दुर्वृत्तियाँ जाग्रत हो उठती हैं। जब राजनीतिक दलो का धार्मिक अथवा जातीय भेदो के आधार पर निर्माण होता है, तो दगो और गृहयुद्ध के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

चुनौती का जवाब

अधिकाश प्रान्तों मे शुद्ध काग्रेसी मत्रिमंडलो का निर्माण हो गया जिनके समर्थको मे हिंदुओं की सख्या बहुत अधिक थी और मुसलमानों की बहुत कम, केन्द्रीय सरकार मे जो मत्रिमडल बनने को था उसमे भी मुसलिम लीग को हिस्सा मिल सकने की सम्भावना नही दिखाई पड रही थी, काग्रेस अब मुसलमान जनता को भी अपने दल की ओर खींच लाने का प्रयत्न कर रही थी, इन सब बातो के फल-स्वरूप सन् १६३७ मे मुसलिम राजनीतिक क्षेत्रो मे घबडाहट फैल गई। मुसलिम लीग को यह मालूम हुआ कि विरोधी दल शक्ति के मद मे मत्त हो कर उसे चुनौती दे रहा है। अब उसके साहस की परीक्षा का समय था और उसने चुनौती को स्वीकार कर लिया। सयुक्त प्रान्त मे तथा अन्यत्र कौसिलों के कुछ मुसलिम सदस्यो का स्थान रिक्त होने के फल-स्वरूप उप-निर्वाचनों मे काग्रेस और लीग की मुठभेड हुई और शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि काग्रेस का मुसलिम जनता को अपने पक्ष मे कर लेने का प्रयत्न तनिक भी सफल नही हुआ है। काग्रेसी मत्रिमडलो पर मुसलमानों पर अन्याय और अत्याचार करने तथा मुसलिम सस्कृति का दमन

करने के अभियोग निराधार थे, और फिर भी कांग्रेस के मुसलिम उम्मीद-वारो की चुनाव मे पराजय रही, यह इसी बात का प्रमाण था कि मुसल-मानो मे कांग्रेस के विरुद्ध नाराज़ी कितना ज़ोर पकड़ गई है। मुसलिम लीग ने मुसलमानो का एक झडे की छाया मे सगठन करने की कोशिश की, उनके एक मात्र प्रतिनिधि होने का दावा पेश किया और इसलिए कांग्रेस को हिन्दू सस्था घोषित करना शुरू किया। उसने यह माँग पेश की कि उसकी अनुमति के बिना देश के शासन-विधान मे कोई सुधार न हो और यह कोशिश की कि जब तक उसके साथ सतोषजनक समझौता न हो जाय तब तक के लिए देश का राष्ट्रीय आदोलन शक्तिहीन हो जाय।

१९४० मे परिस्थिति

इस बात का रहस्य समझने मे कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि यद्यपि कांग्रेसी मन्त्रिमंडलो ने अपने ढाई वर्ष के शासन में जनता को लाभ पहुँचाने वाले बहुत से कार्य किये, फिर भी उनका शासन-काल साम्प्रदायिक तनातनी का समय रहा। सितम्बर १९३९ मे यूरोप में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ और नवम्बर में कांग्रेसी मन्त्रिमंडलो ने इस्तीफ़ा दे दिया, लेकिन अब भी परिस्थिति मे कोई सुधार नही हुआ। ब्रिटिश सरकार स्वभावतः वाद-विवादो से अलग रह कर अपनी सारी शक्ति युद्ध सम्बन्धी कार्यो मे लगाना चाहती थी, फिर भी उसकी घोषणाओं से, विशेष कर ८ अगस्त १९४० की इस घोषणा से कि देश की राज-नीतिक उन्नति विविध राजनीतिक दलो के समझौते पर निर्भर करेगी, उन लोगो की शक्ति बढी जो राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने और इसके लिए मोल-भाव की नीति से काम लेने मे प्रयत्नशील थे। सन् १९२७ से भारत का राजनीतिक वातावरण सरक्षणों, विशेष उत्तरदायित्वो, विशेष अधि-कारों, अधिक प्रतिनिधित्व आदि की आवाज़ो से गूँज रहा था। राजनीति

में बहुत अर्से से उबाल आया हुआ था और झूठी और सच्ची धमकियों का दौरदौरा था। भारतीय नरेशो की ओर से सघ-शासन के सम्बन्ध मे कुछ ऐसे वक्तव्य निकले थे जो सघ-प्रणाली ही नही किसी भी शासन-प्रणाली के प्राथमिक सिद्वान्तो का ही गला घोंटने वाले थे। तेरह बरस से टालमटूल, झिझक, मोल-भाव और हठधर्मी की जो प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थी उनकी बदौलत भारतीय राजनीति की स्थिति ऐसी हो गई थी कि न्याय की आवाज क्रमशः लुप्त हुई जा रही थी। अगर इस बाजारू शोर-गुल के वातावरण मे मुसलिम लीग ने अपनी बात की सुनवाई के लिए अपनी आवाज ऊँची की, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। परन्तु परस्पर-विरोधी पुकारो के फल-स्वरूप जो घना कुहरा छाया हुआ था, उसके कारण वह ऐसी गली मे घुस गई जिसमे दूसरी ओर से बाहर निकलने का रास्ता नहीं था। यह गली थी देश के विभाजन या पाकिस्तान की माँग।

देश के विभाजन मे कठिनाइयाँ

भारत के उत्तरी-पश्चिमी कोने मे मुसलमानों का एक पृथक राष्ट्र हो, यह विचार वैसे तो सन् १६१६ की उत्तेजना के समय से कुछ लोगो के दिमाग़ मे अस्पष्ट रूप से घूम रहा था। सन् १६३१ मे सार्वभौम-इसलामवाद के कवि सर मुहम्मद इक़बाल भी इसके समर्थक बन गये थे। साम्प्रदायिक तनातनी के फल-स्वरूप इस पर कुछ छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ भी निकलीं। अत मे मार्च १६४० मे यह मुसलिम लीग के कार्यक्रम मे भी आ पहुँचा। पृथक निर्वाचन-प्रणाली के तर्क को उसकी चरम सीमा तक पहुँचाया जाय तो वह देश के विभाजन के निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, परतु यदि भारत मे हिंदुओ और मुसलमानो के दो अलग-अलग राष्ट्र बनाने हो तो इसके लिए बहुत से लोगो को एक प्रान्त से हटा कर दूसरे प्रान्त मे बसाने की आवश्यकता पड सकती है और

इस बात की कल्पना ही सब को भयभीत कर देने वाली है। पिछले महायुद्ध के पश्चात यूरोप के बालकन प्रायद्वीप के कुछ देशो मे इस तरह की कोशिश की गई थी, और इसके फल-स्वरूप लोगो को इतना अधिक मानसिक क्लेश तथा आर्थिक कष्ट सहन करना पड़ा था कि उसका वर्णन कर सकना भी आसान नही है। देश का विभाजन करते समय लोगों को भारी तादाद मे स्थानान्तरित कर सकना भी बड़ा कठिन है और आगे के लिए यह नियम बना सकना भी बड़ा कठिन है कि एक हिस्से के लोग दूसरे हिस्से मे जा कर न बसे। इन दोनों कठिनाइयो के सामने देश के विभाजन की आयोजना तैयार करने वाले भी झिझक जाते हैं। और अगर वे इन बातों के लिए तैयार नही होते तो फिर विभाजन की आयोजना मे बड़ी विचित्रता आ जाती है। पंजाब और बगाल मे मुसलमानो की संख्या अधिक है, परंतु उनके अदर ऐसे भी ज़िले हैं जिन मे हिदुओं की या सिक्खो की संख्या बहुत अधिक है। देश का दो भागों मे विभाजन हो जाने पर दोनों भागो मे दोनो सम्प्रदायो के लोग रहेंगे और विभाजन के समर्थकों के अनुसार वे अपने-अपने राष्ट्र की कौंसिलों के मेम्बरो का चुनाव पृथक-निर्वाचन-प्रणाली के आधार पर ही करेंगे। अगर भारत को दो नही चार बल्कि बीस भागो में भी विभाजित कर दिया जाय और उनमे पृथक-निर्वाचन-प्रणाली जारी रक्खी जाय तो हर एक भाग के अन्दर गृह-युद्ध शुरू हो जायगा और इसके फल-स्वरूप ये नये-नये राष्ट्र आपस मे भी लड़ जायँगे। अगर एक प्रान्त मे अल्प-सख्यक सम्प्रदाय के साथ अन्याय हो तो किसी दूसरे प्रात मे इस अल्प-संख्यक सम्प्रदाय के सहधर्मी अपने यहाँ दूसरे सम्प्रदाय वालों के साथ अन्याय करें, विभाजन के समर्थकों की यह विचारधारा ही शाति तथा सद्भावना की घातक है। किसी के अपराध के लिए किसी और को दड देने की बात का अर्थ है राजनीति को सभ्यता के स्तर से बर्बरता के स्तर पर ले आना। विभाजन की आयोजना के सम्बन्ध मे

एक विचित्र बात और भी है। एक ओर तो यह दलील दी जाती है कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सद्भावना तथा सहयोग के अभाव के कारण देश का दो हिस्सो मे विभाजन होना जरूरी है और दूसरी ओर साथ ही यह भी कहा जाता है कि ये दोनो हिस्से, हिंदुस्तान और पाकिस्तान, देश की विदेशियों से रक्षा करने के लिए सद्भावनापूर्वक सहयोग कर सकेंगे।

भारत की एकता

मुसलमानो का एक बड़ा समुदाय कठिनाई को हल करने के लिए ऐसी आयोजना पेश करता है जो प्रकृति, इतिहास तथा मनोविज्ञान की वास्तविकताओं के विरुद्ध है, यह यही ज़ाहिर करता है कि मुसलमानो के सम्मुख कैसी कठिन समस्या है।

पर्वतो तथा समुद्रो के द्वारा प्रकृति ने ही यह स्पष्ट निर्णय कर दिया है कि भारत एक देश होगा। किसी भी अन्य देश के सम्बन्ध मे उसने इससे अधिक स्पष्ट निर्णय नही दिया है। भारत की इस भौगोलिक एकता का ही यह परिणाम है कि बड़ी-बड़ी दूरियो और गमनागमन तथा यातायात की भारी कठिनाइयो के रहते हुए भी भारत के इतिहास मे उसके राजनीतिक एकीकरण के लिए सदा प्रयत्न होते रहे हैं। भारत के एक सागर-तट से ले कर दूसरे सागर-तट तक एक राष्ट्र की स्थापना के आदर्श का वैदिक काल ही मे उदय होने लगा था। ईसवी सन् के पहले की तीसरी और दूसरी शताब्दियो मे ही प्रायः समस्त भारत मौर्य्य साम्राज्य की छत्रछाया मे एक हो गया था। ईसवी सन् के बाद चौथी और पाँचवी शताब्दियो मे गुप्त सम्राटो ने, चौदहवी सदी मे खिलजी और तुग़लक सुलतानो ने, और सत्रहवी सदी मे मुग़ल शहशाहो ने फिर सारे भारत को एक राजनीतिक सूत्र मे बाँधा था। भारत मे कोई साम्राज्य कई शताब्दियो तक स्थिर नही रह सका, परंतु गमनागमन

तथा यातायात के साधनो मे विज्ञान द्वारा महान परिवर्तन होने के पूर्व यह बात भारत ही क्या किसी भी देश मे सम्भव नहीं थी। परतु देश को राजनीतिक दृष्टि से एक बनाने का प्रयत्न करने वाली प्रवृत्तियाँ सदा जारी रही और उन्हे सास्कृतिक भावना से बड़ी सहायता मिलती रही। सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत मे एक ही राजनीतिक व्यवस्था के लिए स्थान है, और कलो के इस युग में यह बात और भी सत्य है। भारत के एक राष्ट्र होने पर ही उसमे रेलो, तारो और उद्योग-धंधों का समुचित विकास हो सकता है। भारत में खनिज पदार्थों और कच्चे माल का विभाजन भी इस प्रकार का है कि उसके विभिन्न भाग अपनी-अपनी उन्नति के लिए एक दूसरे के आश्रित हैं। सीमा-प्रान्त और सिंध के सूबे तो अभी अपनी आमदनी और ख़र्च के सम्बन्ध मे भी स्वावलम्बी नही बन पाये हैं और भारत सरकार से मिलने वाली आर्थिक सहायता से अपना काम चलाते हैं। सीमा-प्रान्त, सिन्ध, पजाब और बंगाल की वर्तमान आय मिल कर भी इतनी ही है कि उन्हे अपने लोकोपयोगी महकमो की वृद्धि करने ही मे कठिनाई होगी, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमाओ पर क़िलेबन्दी करने और सीमा प्रान्त की विदेशी आक्रमण से रक्षा की व्यवस्था करने का ख़र्चा तो और भी बड़ी बात है। हिन्दुस्तान से अलग होने पर केन्द्रीय सरकार के ऋण का जो भाग उनके हिस्से में पड़ेगा, वही एक भारी बोझा होगा।

सैनिक दृष्टि से

अगर युद्ध-काल की सम्भावनाओ की दृष्टि से देखा जाय तो भारत के लिए एक केन्द्रीय सरकार का होना वाछनीय ही नही आवश्यक मालूम देगा। वर्तमान महायुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया है कि छोटे और मध्यम आकार के राष्ट्र अपनी रक्षा नही कर सकते, और इसलिए इस बात की बहुत सम्भावना है कि युद्ध के पश्चात संसार का झुकाव बड़े

राष्ट्रों की ओर होगा और छोटे राष्ट्रो को अपने सघ बना कर बडे बनना पडेगा। अब छोटे राष्ट्रो का युग समाप्त हो चुका, क्योंकि वर्तमान युद्धों के लिए बडी सेना, भारी खर्चे, बडे-बडे कारख़ानों और बहुत सी युद्ध सामग्री की आवश्यकता होती है। आज का युद्ध देशो का नही, साम्राज्यो और महाद्वीपो का युद्ध है। वह विश्वव्यापी जैसा है और ससार के किसी भी भाग तक पहुँच सकता है। यूरोप और जापान वालो को उपनिवेशो का ऐसा मोह हो गया है कि वर्तमान महायुद्ध की समाप्ति के बाद फिर ऐसे ही या इससे भी अधिक भयानक युद्ध छिड सकते हैं। अतर्राष्ट्रीय झगडों का क्षेत्र पूर्व की ओर बढ आया है। अब प्रशान्त महासागर का महत्व अटलाटिक महासागर से भी बढ गया है और प्रशान्त की लहरे सयुक्त राष्ट्र, कनाडा, जापान, चीन, रूस, आस्ट्रेलिया और भारत जैसे बड़े-बड़े राष्ट्रो के किनारों को स्पर्श करती हैं। इस महासागर मे निकट अथवा सुदूर भविष्य मे ऐसे सघर्ष हो सकते हैं जिनके द्वारा मानव जाति के ही भविष्य का निर्णय हो सकता है। अगर भारत के द्वार पर विश्वव्यापी महायुद्धों की सम्भावना है, तो उसे अपनी रक्षा के लिए शस्त्रों तथा साधनो के सम्बन्ध मे अधिकाधिक मात्रा मे स्वावलम्बी बनना पड़ेगा। उसकी सरकार ऐसी होनी चाहिए जो देश के समस्त बाहुबल और समस्त बुद्धिबल को बटोर कर और कल-कारख़ानो की ज्यादा से ज्यादा तरक्की करके उसकी रक्षा कर सके। अगर भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग मे या बगाल मे कोई छोटा स्वतन्त्र राष्ट्र हो तो ज़बर्दस्त आक्रमण होने पर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा और उसकी बदौलत बाक़ी हिंदुस्तान की रक्षा की भी समुचित व्यवस्था न हो सकेगी। अगर यह कहा जाय कि भारत मे एक से अधिक राष्ट्र तो रहेगे परन्तु उनके बीच युद्ध काल ही मे नही बल्कि स्थायी रूप से सहयोग रहेगा, तो इसका अर्थ यह होता है कि उनकी सेनाओ, जल-सेनाओं, आकाश-सेनाओं, रेलों, सडकों, तारों, कल-कारखानों, आदि अनेक साधनों को

संयुक्त नियन्त्रण में रखना पड़ेगा। इसी को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि एक केन्द्रीय सरकार का होना ज़रूरी है। भारत का विभाजन नहीं हो सकता, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति एक केन्द्रीय सरकार से ही हो सकती है।

यह कहना कि हिन्दू और मुसलमान दो मुख़्तलिफ क़ौमें हैं, "क़ौम" शब्द को एक असाधारण अर्थ में व्यवहार करना है। लेकिन अगर यह मान भी लिया जाय तो भी इससे यह तो सिद्ध नहीं हो जाता कि क़ौम और राष्ट्र एक ही बात हैं। यूरोप में पिछले डेढ़ सौ वर्षों में जो अशांति रही है उसका एक बड़ा कारण क़ौम और राष्ट्र सम्बन्धी विचारों का स्पष्ट न होना है। आधुनिक युग में पूर्व में भी और पश्चिम में भी इस बात के समझ लिये जाने की आवश्यकता है कि अगर मनुष्यों का एक समुदाय अपने को एक क़ौम समझता है तो यह लाज़मी नहीं है कि उसका एक अपना राष्ट्र भी हो।

विभाजन का विरोध

अगर सब की रज़ामन्दी से भी भारत का विभाजन हो जाय तो भी वह आर्थिक तथा सैनिक दृष्टि से सब के लिए नाशकारी सिद्ध होगा। राजनीतिक संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं का परिणाम वही नहीं होता जो उनके संस्थापक चाहते हों। उनका परिणाम तो उनके अनुकूल ही हो कर रहेगा। विभाजन की कल्पना का बहुत तरह से विरोध शुरू भी हो गया है। दक्षिण भारत के कुछ मुसलमानों का विचार है कि देश का विभाजन होने से उनकी मौजूदा हालत में सुधार होने के बजाय वह और भी बदतर हो जायगी। उत्तर भारत में भी ऐसे मुसलमान हैं जो देश के विभाजन को बिलकुल व्यर्थ की बात समझते हैं क्योंकि सिंध, सीमा-प्रान्त, पंजाब और बंगाल में उन्हें प्रान्तीय स्वराज्य मिल ही गया है। जिन लोगों का कल-कारखानों, बैंकों या व्यापार से सम्बन्ध है उन्हें भी

देश के विभाजन मे कोई आकर्षण न दिखाई देगा, क्योंकि अगर एक देश के दो देश हो गये तो उनके बीच वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र मे भी प्रतिबन्ध लग सकते हैं और यह उनकी दृष्टि से अच्छा न होगा। जिन अल्प-संख्यक सम्प्रदायों की सख्या मुसलमानों से भी कम है उन्हे भी यह बात पसन्द नही हो सकती कि वे एक राष्ट्र के बजाय दो राष्ट्रो मे बँट जायँ। "बिना पाकिस्तान के स्वराज्य न हो" का नारा लगाने वाले ग़ैर-मुसलिम लोगो की बाबत या तो यह समझते हैं कि उनमे समझदारी की कुछ कमी है और या यह कि वे स्वराज्य के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली के फल-स्वरूप जिस प्रकार सन् १९३७ मे काग्रेसवाले मुसलमानो की भावनाओ को पूरी तरह नही समझ पाये थे, उसी प्रकार अब मुसलिम लीग वाले यह नही महसूस कर सके हैं कि देश मे देशभक्ति की भावना कितनी प्रबल हो चुकी है और इस भावना का आधार है देश की एकता की भावना। यदि देश के विभाजन की कोशिश की गई तो हिन्दुओ तथा कुछ अन्य लोगो के सिवाय सिक्ख लोग उसका कैसा घोर विरोध करेंगे, इसकी कल्पना भी चित्त को अस्थिर कर देने वाली है। विभाजन के मार्ग मे एक और कठिनाई यह है कि सिंध, पजाब और बगाल से लगे हुए, और पजाब और बगाल के अदर भी, ऐसे देशी राज्य मौजूद हैं जिनके राजे-महाराजे हिन्दू हैं।

ब्रिटिश सरकार का रुख़

ब्रिटिश सरकार भी भारत के विभाजन के प्रस्ताव का समर्थन न कर सकेगी। राष्ट्रो की वैदेशिक नीति मे परिवर्तन होते रहते हैं। छोटे-छोटे राष्ट्रो की स्वतन्त्रता के प्रति सभ्य ससार को जो सम्मान की भावना पहले थी वह अब नही रह गई है। अप्रैल १९४० से अब तक अनेक छोटे राष्ट्रो पर अकारण आक्रमण हो चुके हैं, परन्तु इन आक्रमणो की उतनी निंदा नही हुई है जितनी अगस्त १९१४ मे बेलजियम पर होने वाले

अकारण आक्रमण की हुई थी। अब तो यह विचार ज़ोर पकड़ रहा है कि पड़ोसी राष्ट्रो को आपस मे मिल कर अपने सघ बना लेने चाहिएँ। जून १६४० मे जिस समय जर्मन आक्रमण के फल-स्वरूप फ्रान्स के पैर डगमगा रहे थे, उस समय ब्रिटेन ने उससे ब्रिटेन और फ्रान्स का संघ बनाने का प्रस्ताव किया था, जिसका आशय यह था कि दोनो देशों के नागरिको को दोनो देशो के अदर बराबरी के अधिकार रहेगे। अब तो ब्रिटेन और अमरीका का एक सघ बनाने का भी प्रश्न उठाया जाने लगा है। अगर भारत एक राष्ट्र हो तो उसके पास इतने सैनिक और साधन होगे कि अफग़ानिस्तान या रूस या दूसरे पड़ोसी राष्ट्र उससे युद्ध छेड़ने मे हिचकेगे। परन्तु अगर पाकिस्तान अलग से एक छोटा राष्ट्र बन जायगा तो उन्हे यह झिझक न रहेगी। इसके बजाय यह भी सम्भव है कि पाकिस्तान अपने उत्तरी-पश्चिमी पड़ोसियो के साथ किसी तरह का नाता जोड़ने की कोशिश करे। ब्रिटेन का जब तक भारत के साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध रहेगा, चाहे वह सम्बन्ध साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य के आधार पर हो और चाहे मित्रतापूर्ण संधि के आधार पर, तब तक पाकिस्तान का अपने पड़ोसियो से झगड़ना भी और नाता जोड़ना भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के लिए एक चिंता का ही विषय होगा। पिछले सौ वर्ष से भी अधिक समय से ब्रिटेन भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रदेश के सम्बन्ध मे सदा अत्यन्त सतर्क रहा है।

ब्रिटेन के एशिया मे जो हिताहित हैं उनसे भारत के विभाजन की बात मेल नही खाती। हाँ, यह कहा जा सकता है कि पिछले दस वर्षों मे ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने बार-बार ब्रिटिश साम्राज्य का हिताहित समझने मे भूल की है—सन् १६३१ मे उन्होने जापान के मंचूरिया-आक्रमण का विरोध नही किया, १६३६-३८ मे स्पेनिश प्रजातन्त्र का नाश हो जाने दिया, रूस में अपने प्रति नाराज़ी बढ़ने दी और १६३८ मे

चैकोस्लोवेकिया का अंग-भंग हो जाने दिया—और इस प्रकार की भूल वे फिर भी कर सकते है। परन्तु अपनी पिछली भूलों का नतीजा भुगत चुकने के बाद भविष्य मे ब्रिटिश मन्त्रिमडलों को अधिक सतर्क होना पड़ेगा। हाँ, यह बात असम्भव तो नही है कि विभाजन का समर्थन करने वाली शक्तियाँ इतनी प्रबल हो जायॅ कि विभाजन हो कर ही रहे, परन्तु अगर हो भी जाय तो वह स्थायी तो कदापि नहीं हो सकता। यह मनुष्य के वश से बाहर की बात है कि जो भूभाग भौगोलिक, सास्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से एक है उसे टुकड़े-टुकड़े कर दे, उन टुकड़ों को मनमाने ढग से जोड़ दे और यह नई व्यवस्था स्थायी हो जाय। विभाजन की क्रिया की देशी राज्यो मे तो प्रतिक्रिया होगी ही, वह स्वय पाकिस्तान को भी तोड कर ही रहेगी। यदि देश टुकड़े-टुकड़े हो कर फिर अठारहवी बल्कि ग्यारहवी सदी वाली हालत को पहुॅच जाय तो एकीकरण की प्रवृत्तियों को, जो सदा मौजूद रही हैं, फिर एक बार अपना काम कर सकने का मौक़ा मिल जायगा। पाकिस्तान स्थायी नही हो सकता। आगे चल कर ऐसा समय आ सकता है कि भारत एक राष्ट्र के रूप मे पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों के साथ, या इस समय "मित्र-राष्ट्र" कहलाने वाले राष्ट्रो के साथ, या ससार भर के राष्ट्रों के साथ मिल कर एक राष्ट्र-सघ का सदस्य बन जाय। परन्तु भारत के स्थायी विभाजन की कल्पना तो वैसी ही है जैसी हिमालय पर्वतमाला का पुनर्विभाजन करने, या इतिहास को मिटा देने, या देशभक्ति की भावना को नष्ट कर देने, या आधुनिक युग की अपनी विशेषता को आमूल उखाड़ फेकने की कल्पना करना। अगर भारत के विभाजन की एक अस्थायी व्यवस्था के रूप मे भी कल्पना की जाय तो भी उसका अर्थ यही हो सकता है कि जब तक वह रहेगा तब तक ब्रिटिश सेना रहेगी, और इसके फलस्वरूप भारत के दोनो राष्ट्रो की वैदेशिक नीति, उनके आर्थिक जीवन, बल्कि शासन के सभी महत्वपूर्ण विभागो पर ब्रिटेन का नियन्त्रण रहेगा।

देश के विभाजन की बात एक प्रगति-विरोधी कल्पना है। उसका उदय इसी कारण हो सका कि तेरह वर्ष से प्रगति रुकी हुई थी। यदि वास्तव मे विभाजन हो जाय तो देश की प्रगति रुक जायगी। परन्तु यदि कोई ऐसी बात है जिसे सभ्यता अधिक समय तक सहन नही कर सकती तो वह है प्रगति का रुक जाना। सभ्यता मे जो प्रगति की प्रवृत्ति है वह शीघ्र ही सजीव हो उठती है और विघ्न-बाधाओ को तोड़-फोड़ कर उसे पथ पर अग्रसर कर देती है।

पाकिस्तान की चेतावनी

देश के विभाजन से भारत की समस्या हल नही हो सकती। यह बात कुछ विचित्र भले ही मालूम दे परन्तु है सच्ची कि इसकी कल्पना ही परिस्थिति की घोर वास्तविकता का सामना करने के बजाय उससे भागने की प्रवृत्ति का परिणाम है। देश मे एक शताब्दी तक पुनरुत्थानवाद का दौरदौरा रहा, एक पीढी तक पृथक-निर्वाचन-प्रणाली ने अपना काम किया, आधी पीढी तक टालमटूल की नीति चली, दस वर्ष तक विदेशों की घटनाओ का ठीक-ठीक रहस्य न समझ सकने के कारण उनका अवाञ्छनीय प्रभाव पड़ता रहा और ढाई वर्ष तक पार्लीमेन्टरी शासन-प्रणाली की पुरानी परम्पराओ का पालन किया गया—इन सब बातो का परिणाम है पाकिस्तान की उद्‌भावना। वह पृथक्करण के द्वारा निश्चिंतता प्राप्त करने के मार्ग की एक मंज़िल है। वह अब तक बरती गई पृथक-निर्वाचन-प्रणाली की असफलता की घोषणा है। तर्क की कसौटी पर वह एक अधूरी आयोजना है। यदि उसे कार्य-रूप मे परिणत किया गया तो मनुष्यो को भारी संख्या मे एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान मे बसाने की कोशिश लाज़मी हो जायगी और अत मे इस बात के लिए संघर्ष छिड़ कर रहेगा कि या तो मुसलमानो का हिंदुओ पर और या हिंदुओ का मुसलमानों पर आधिपत्य स्थापित हो जाय। यह

बिलकुल असम्भव बात है और तब पृथक्करण की उस गली का सिरा आ जायगा जिसकी बाबत हम कह चुके हैं कि उसमे दूसरी ओर से बाहर निकल सकने का मार्ग नही है। फिर पीछे लौटने के सिवाय कोई दूसरा मार्ग न रह जायगा। ये सब केवल कल्पना-जगत की बाते नही है। ये देश के विभाजन की आयोजना के अवश्यम्भावी पहलू हैं। अगर इनकी ओर ध्यान नही गया है तो उसका एक मात्र कारण यही है कि देश की राजनीतिक परिस्थिति पर घना कुहरा छाया हुआ है। जब कुहरा हट कर आकाश साफ हो जायगा और वास्तविकता दिखाई पड़ने लगेगी, तब दोनो सम्प्रदाय वालो की समझदारी और घटनाओ के दबाव के फल-स्वरूप देश की राजनीति एक नई दिशा मे चल पडने की बहुत सम्भावना है। पाकिस्तान के समर्थक चाहे वास्तव मे देश का विभाजन चाहते हो और चाहे इस धमकी के द्वारा देश-की राजनीतिक शक्ति के बॅटवारे के सम्बन्ध मे मोल-भाव करना चाहते हो, जब तक यह प्रस्ताव या आदोलन जनता के सम्मुख रहेगा तब तक उसके कारण आपसी मनमुटाव बढते रहने का खतरा बना रहेगा। किसी भी राजनीतिक विचार का प्रचार करने के लिए एक विशेष प्रकार के प्रोपेगेंडा की आवश्यकता पड़ती है और कभी-कभी तो उसके फल-स्वरूप कार्यक्रम मे भी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। अगर देश के विभाजन के पक्ष मे प्रोपेगेंडा करना है तो स्वभावतः हिंदुओ और मुसलमानों के बीच जिन-जिन बातो मे भी मतभेद या भिन्नता है उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करके उनका महत्व बढाना ज़रूरी हो जाता है। इससे करोड़ो मनुष्यो की देशभक्ति की भावना को धक्का लगता है और उनके हृदय मे कटुता उत्पन्न होने लगती है। समझौते का मार्ग कठिन हो जाता है। आज की परिस्थिति मे सन् १९१६ बल्कि १९३० की भी परिस्थिति से सबसे बड़ा अन्तर यही है कि आज समझौते की प्रवृत्ति या इच्छा कमज़ोर हो गई है और यह वास्तव मे एक चिंताजनक बात

है। अपने राजनीतिक दल की शक्ति बढाने के लिए पृथक्करण के पक्ष के तर्कों का आश्रय लेने मे एक ख़तरा और भी छिपा रहता है। राजनीतिक अनुभव से शून्य और अपरिपक्व मस्तिष्क वाले लोगो मे, जिन की सख्या बहुत अधिक है, इन तर्कों के फल-स्वरूप इतनी उत्तेजना फैल सकती है कि नेता लोग अपने हाथ से तैयार की गई जंजीरो में ख़ुद ही बॅध जायँ और चाहने पर भी पीछे न लौट सके। मुसलिम लीग जैसी एक प्रमुख राजनीतिक संस्था का पाकिस्तान के विचार को अपना लेना, एक ऐसी बात है जिससे दूसरे लोगो को चिता होना स्वाभाविक है। हिंदुओ के लिए यह इस बात की दुःखद चेतावनी है कि उन्हें अपनी गति-विधि पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और अपनी उन बातो को बदल लेना चाहिए जिनके कारण दूसरे लोग उनकी नीयत पर सदेह करते हैं और निश्चित नही रह सकते। यह ऐसी दवा ढूंढ निकालने के कर्तव्य की चेतावनी है जिससे देश के राजनीतिक जीवन के सब रोग दूर हो जायँ और सब समुदायो तथा सम्प्रदायो के लोग शान्ति और स्वतन्त्रता के वायुमंडल मे साँस ले सके।

द्वितीय खंड

इलाज

चौथा अध्याय

उन्नति के पथ पर

हिंदू-मुसलिम समस्या के तीन पहलू

सभ्यता निस्सन्देह प्रगतिशील है, परन्तु सभ्यता-रूपी रथ के पहिये ठीक से तभी चलते हैं जब उसके अन्दर बोझा एक ओर कम और दूसरी ओर अधिक न हो और रास्ते में आने वाली रुकावटें दूर कर दी जायँ। सभ्यता बहुत से विचारों, भावनाओं, परम्पराओं, संस्थाओं तथा साधनों का सम्मिश्रण है और इसलिए बड़ी जटिल पहेली है। अगर उसके इन विभिन्न अङ्गों के बीच सामंजस्य हो तब तो ठीक है और उसकी प्रगति शान्तिपूर्ण रहती है। परन्तु अगर यह सामंजस्य बिगड़ गया, किसी एक का बल आवश्यकता से अधिक बढ़ गया और किसी दूसरे का बहुत अधिक घट गया, या अगर आगे बढ़ने के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित हो गई, तो फिर सभ्यता की शक्तियाँ स्वयं अपने लिए ही हानिकारक बन जाती हैं और सामाजिक व्यवस्था को अस्तव्यस्त करने लगती हैं। जब देश के आन्तरिक जीवन में संघर्ष बढ़ने लगता है तो इसका वास्तविक कारण असफलता तथा निराशा की बदौलत पैदा होने वाली कटुता होती है। असफलता तथा निराशा के वातावरण ने भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो समस्या उत्पन्न कर दी है उसके तीन पहलू हैं। एक पहलू के अन्दर तो वे बातें आती हैं जो स्वयं ही हल हो कर भूली हुई बातें बन सकती हैं। दूसरे पहलू में संस्कृति सम्बन्धी बातें आती हैं जिनमें से कुछ तो अपने आप हल हो सकती हैं और कुछ के बारे में समझौता करना पड़ेगा।

तीसरा पहलू राजनीतिक प्रश्नो का है जिनको हल करने के लिए समझौता ही सब से अच्छा ढग है। इस प्रकार हिंदू-मुसलिम समस्या के इलाज के भी तीन पहलू हैं—राजनीतिक प्रश्नो पर फौरन समझौता करना पड़ेगा, कुछ समस्याएँ देश की सर्वाङ्गीण उन्नति के साथ धीरे-धीरे हल होती रहेगी, और इस बीच सास्कृतिक सामजस्य स्थापित करने की आवश्यकता होगी। जीवन की एकता को स्थिर रखने के लिए इन विभिन्न प्रश्नो को एक साथ ही हाथ मे लेना होगा और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना पड़ेगा। मनुष्य की प्रत्येक समस्या एक विशेष वातावरण की एक घटना मात्र होती है, अगर वातावरण को बदल दिया जाय तो समस्या का रूप भी बदल जाता है। सोलहवी और सत्रहवी शताब्दियों मे कैथलिक और प्राटेस्टेन्ट ईसाई फ्रान्स मे एक दूसरे से लड़ते रहते थे और ब्रिटेन मे एक दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते रहते थे, परन्तु अठारहवी शताब्दी मे इन देशो के बौद्धिक वायुमडल और आर्थिक जीवन मे परिवर्तन होने का परिणाम यह हुआ कि इन दोनो सम्प्रदायो के लोग सद्भावना-पूर्वक साथ-साथ रहने लगे। उनके झगड़े समझौते के द्वारा तै नहीं हुए। दृष्टिकोण मे परिवर्तन हो जाने के कारण वे स्वय ही हल हो गये और कुछ समय बाद लोग उन्हे भूल गये। कोई सरकार कानून बना कर लोगो को पारस्परिक सद्भावना और हेल-मेल के साथ रहना नहीं सिखा सकती, परन्तु सरकारी और ग़ैरसरकारी सस्थाएँ मिल कर अशिक्षा, निरक्षरता, अस्वस्थता, रोग, निर्धनता, जन्मजात असमानता आदि उन बातो को दूर करने की कोशिश कर सकती हैं जिनके कारण लोगो के दिमाग़ो मे ईर्ष्या और छोटेपन की भावनाएँ बढती हैं, उनका दृष्टिकोण सकीर्ण बनता है और उनके बीच झगड़े बढते हैं। वे पारस्परिक सह-योग द्वारा इस बात का प्रयत्न कर सकती हैं कि सब लोग शिक्षा पा सके, उनकी आर्थिक स्थिति मे सुधार हो और उन्हे जीवन-सग्राम मे

समानता का अवसर मिले। ऐसा होने से उनका बौद्धिक और आध्यात्मिक वातावरण बदल जायगा, उनके दृष्टिकोण मे उदारता आ जायगी और समाज मे सघर्ष की कमी हो कर सामजस्य की वृद्धि होगी। जिस प्रकार मनुष्य के स्वास्थ्य मे सुधार होने से बहुत से रोग अपने-आप भाग जाते है, उसी प्रकार समाज की सर्वांगीण उन्नति होने पर सघर्ष के अनेक कारण अपने आप लुप्त हो जाते हैं।

सामाजिक न्याय

जनता का जीवन शान्त और सुखी हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज मे न्याय की भावना प्रगतिशील बनी रहे, जिसका अर्थ यह है कि लोगो को अपना जीवन सफल और सुखी बनाने के लिए, जहाँ तक सम्भव हो, अधिक से अधिक सुविधाएँ मिलती रहे और वे सब को समान रूप से मिले। यदि सब को समान रूप से अवसर नही मिलता तो ईर्ष्या और सघर्ष की, आधिपत्य और पराधीनता की उत्पत्ति होती है। अगर उन्नति कर सकने के लिए यथेष्ट अवसर नहीं मिलता तो समाज का जीवन निम्न स्तर पर रहता है और व्यक्तियो के बीच सदा अवाछनीय छीनाझपटी और तनातनी बनी रहती है। समाज-संगठन का सब से महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि सब लोगो को आत्म-विकास का समान अवसर प्राप्त हो और इस अवसर की मात्रा समाज के साधनो को देखते हुए यथासम्भव अधिक हो। व्यक्ति को जितना अधिक अवसर मिलेगा उतनी ही अधिक वह उन्नति कर सकेगा। आज भारत ही में नही, संसार भर मे जिस बात को समझ लेने की सब से अधिक आवश्यकता है वह यह है कि आधुनिक विज्ञान ने स्थिति मे ऐसी क्रान्ति कर दी है कि संसार की कायापलट हो सकती है। विज्ञान की बदौलत ससार के इतिहास मे पहली बार यह बात सम्भव है कि सब मनुष्य शिक्षित हो सके, निर्धनता और अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सके, अत्यधिक परिश्रम और

कष्ट से छुट्टी पा सके और यथेष्ट अवकाश का उपभोग करते हुए सुख और सुविधा का जीवन बिता सके। मनुष्य इस बात को जितनी अच्छी तरह समझ सकेगा उतनी ही उसकी प्रवृत्ति युद्ध और संघर्ष से हट कर सहयोग तथा सद्भावना की ओर झुकेगी। परन्तु साथ ही इस बात को भी समझ लेने की आवश्यकता है कि यद्यपि लोक-हित की ये सब बातें सम्भव हो गई हैं परन्तु उनका कार्य रूप में परिणत हो सकना इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य उनके अनुकूल अपना संगठन कर सके और अपने दृष्टिकोण में तदनुकूल आदर्शवादिता ला सके। कोई देश सामाजिक न्याय के आदर्श से कितना दूर या निकट है, इसकी कसौटी आधुनिक युग में यही हो सकती है कि वह इस परिस्थिति को लाने के लिए कहाँ तक प्रयत्नशील है।

आत्मविकास

जितना ही सब व्यक्तियों को—पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों, सभी को—अपने व्यक्तित्व का, अपनी योग्यताओं का, विकास कर सकने का अधिक अवसर मिलेगा, उतना ही समाज का जीवन उच्च स्तर की ओर अग्रसर होगा। व्यक्तित्व का विकास एकान्त में नहीं समाज में रह कर ही होता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि व्यक्तियों के विकास के साथ-साथ उनके बीच पारस्परिक सहयोग भी बढ़ता रहता है और समाज-संगठन अधिकाधिक सहयोग के अनुकूल रूप धारण करता रहता है। सामाजिक सद्भावना और व्यक्ति का विकास साथ-साथ बढ़ते रहते हैं। साराश में एक ओर मनुष्यों की योग्यता तथा कार्यक्षमता में वृद्धि होती है, दूसरी ओर वे अधिकाधिक मात्रा में एक दूसरे की सहायता करना सीखते हैं, जिसके फल-स्वरूप उनके बीच हसद, जलन और बदगुमानी घटती है। इसके विरुद्ध अगर मनुष्यों को उन्नति करने का, अपना जीवन उच्चतर बनाने का अवसर नहीं मिलता, तो वे अनिच्छा-

पूर्वक निम्न स्तर के जीवन से संतोष कर लेते है, उनकी महत्वाकाक्षाएँ दब जाती है, और वे छोटी-मोटी वस्तुओ के लिए ही आपस मे छीना-झपटी करने की प्रवृत्ति के वशवर्त्ती हो जाते हैं। आज भारत इसी रोग से पीड़ित है और कम या अधिक मात्रा में यह बात संसार के सभी देशो के लिए लागू है। इसीलिए इतना सघर्ष है और व्यर्थ का वाद-विवाद है। इस समस्या को हल करने का यही उपाय है कि देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न किया जाय।

सार्वजनिक शिक्षा

सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए, अर्थात् लोगो को आत्मोन्नति के लिए अधिक से अधिक और समान रूप से अवसर देने के लिए, सब से आवश्यक बात सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था है। आधुनिक युग मे शिक्षा थोड़े से लोगो की एक सुख-सामग्री नही है बल्कि सभी के लिए एक आवश्यक वस्तु है। बिना सब लोगो मे शिक्षा का प्रचार हुए न तो उद्योग-धन्धो की उन्नति हो सकती है, न लोगो की आर्थिक स्थिति मे सुधार हो सकता है, न वे नागरिकता के कर्तव्यो अथवा अधिकारो को समझ सकते हैं। जनता की अशिक्षा विरोध की पुरानी भावनाओ को मिटने नही देती, उसके नेताओ को भी नीचे की ओर घसीटती रहती है, आदोलन चलाने मे चालाकी से काम लेने वालो को सफलता प्राप्त करने का अवसर देती है और उन्नति के मार्गों को रोक देती है। वह मनुष्य के मस्तिष्क को छोटे से पिंजड़े मे क़ैद कर देती है और उसे सार्वजनिक प्रश्नो पर उदार अथवा व्यापक दृष्टिकोण से विचार नही करने देती। सन् १६३१ मे भारत की आबादी ३५ करोड़ थी और यह संख्या संसार भर की जन-सख्या का प्रायः पंचमाश थी। परन्तु संसार भर के निरक्षर लोगो मे से पूरे तिहाई लोग भारत में थे। सन् १८४१ मे भारत मे साक्षर लोगो की सख्या ४ प्रतिशत से कुछ कम

थी, १६११ मे ६ प्रतिशत, १६२१ मे ८ प्रतिशत, और १६३१ मे ८॥ प्रतिशत। आज भी वह १० प्रतिशत से कुछ कम ही है। साक्षरता की यह प्रगति इतनी धीमी है कि दस बरस मे केवल १ प्रतिशत की वृद्धि हो पाती है। अगर यही चाल रही तो भारतवासियो को शत-प्रतिशत साक्षर बनने मे छः सौ या सात सौ वर्ष लग जायँगे। यह कैसी दुःखद घटना है कि जो बात आधुनिक परिस्थिति मे एक पीढी के अदर हो सकती है उसे करने के लिए बीस पीढी से अधिक का समय चाहिए। जिस शासन-प्रणाली मे इस तरह के दकियानूसीपन के लिए गुंजाइश है, उसमे शीघ्र परिवर्तन होने की आवश्यकता है ताकि वह आधुनिक काल की आवश्यकताओ के अनुकूल बन सके। चाहे जो सरकार हो, लोकमत का सब से पहला काम यह होना चाहिए कि वह उसे सब लोगो के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए मजबूर करे। अगर हम इस बात पर विचार करेंगे कि मनुष्यो के मस्तिष्कों के पारस्परिक सम्पर्क तथा सम्बन्ध का ही नाम समाज है, तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि शिक्षा से पूरा-पूरा लाभ तभी होता है जब वह बूँद-बूँद करके टपकने के बजाय शीघ्रता से सब लोगो तक पहुँचने की कोशिश करती है। भारत मे शिक्षा का विस्तार इतनी मन्द गति से हुआ है कि अल्प-सख्यक शिक्षित समुदाय बहुसख्यक अशिक्षित समुदाय को अपना जैसा बना सकने के बजाय स्वय ही उस जैसा बन जाता है और देश मे फैली हुई अशिक्षा-जनित मूर्खता की भावनाएँ ज्यो की त्यो बनी रहती हैं। शिक्षा-प्रचार की धीमी चाल मे डर की एक बात और भी है। विद्या-बुद्धि का इतना अधिक अन्तर रहने के कारण शिक्षित वर्ग अपने को शासक वर्ग बनाने की कोशिश कर सकता है। जब विज्ञान ने समाज के साधनो को इतना बढ़ा दिया है तब भी अगर कोई सरकार देश के हर एक बच्चे को शिक्षा देने तथा निरक्षर वयस्को को साक्षर बनाने का प्रबन्ध नही कर सकती, तो यही कहना पड़ेगा कि या तो उसमे बुद्धि की भारी कमी है और या वह जनता को

शिक्षित बनाना ही नही चाहती। सभ्यता के लाभो को मनुष्यो तक पहुँचाने के लिए शिक्षा-प्रचार से अधिक उपयोगी साधन कोई दूसरा नही है।

शिक्षा मे सुधार

शिक्षा को प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाना ही नहीं है, शिक्षा-प्रणाली में सुधार की भी आवश्यकता है। अक्सर यह देखा गया है कि बहुत से लोगो के विचार करने के ढग पर शिक्षा का प्रायः कुछ भी प्रभाव नही पडता और वे शिक्षा के फल-स्वरूप न तो पुरानी रूढियो से ही मुक्ति प्राप्त करने मे सफल होते हैं और न इसी योग्य बन पाते हे कि किसी के प्रोपेगेडा के जाल मे न फँसे। आधुनिक काल मे शिक्षा-प्रणाली में सुधार करने के लिए मनोविज्ञान से बहुत कुछ सहायता ली गई है। भारत में इस प्रकार के सुधार की विशेष रूप से आवश्यकता है। पश्चिमी देशो मे जिन नये-नये ढगो का उपयोग किया जा रहा है, उन सब से भारत को भी लाभ उठाना चाहिए और स्वयं भी नये-नये प्रयोग करने चाहिएँ। ज़रूरत इस बात की है कि विद्यार्थी विद्यालय मे पढ़ते समय आज-कल की अपेक्षा अधिक ज्ञान भी प्राप्त कर सके, दस्तकारी या दस्तकारियो के द्वारा अपने हाथो का उपयोग करना भी सीख सके और अपने मस्तिष्क का विकास भी कर सके। ज्यो-ज्यो सभ्यता की उन्नति होती है, मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान का सचित कोष भी बढ़ता जाता है और विद्यार्थी का भार भी। यह कार्य विद्यालय का है कि वह अपने विद्यार्थियो का इस कोष से परिचय करा सके और उन्हे आधुनिक जगत में अपना स्थान ग्रहण करने के योग्य बना सके। यदि विद्यालयो में वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणालियो से काम लिया जाय और शिक्षा देने वाले अध्यापक भली भाँति सुशिक्षित तथा मनोविज्ञान के ज्ञाता हो, तो विद्यालयो से निकलने वाले विद्यार्थियो मे विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकने या कला-कारीगरी सीख सकने या जीवन मे

प्रवेश कर सकने की क्षमता आज-कल की अपेक्षा कही अधिक होगी। इन विद्यालयो का प्रभाव ऐसा होना चाहिए कि उनके विद्यार्थी अपने मस्तिष्क को मुक्त कर सके, विभिन्न बातो को उनका उचित महत्व देना जाने और साम्प्रदायिक तथा अन्य समस्याओं के प्रति समझदारी का दृष्टिकोण रख सके। सभ्यता उच्च स्तर पर तभी रह सकती है जब विद्यालयो तथा विश्वविद्यालयो मे सामाजिक भावनाओ को सुसस्कृत और विकसित करके आगे बढाने की शक्ति हो।

ससार की बात

शिक्षा का एक वातावरण होता है जिसका विद्यार्थी पर बड़ा असर पड़ता है। अब तक जैसी हालत रही है उसमे इस बात से काम चल जाता था कि विद्यालयो की पढाई मे उनके देश की बातो की ही विशेष चर्चा रहती थी। परन्तु अब विज्ञान की उन्नति ने संसार के विभिन्न भागो के बीच पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सम्पर्क स्थापित कर दिया है। अब शिक्षा मे इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है कि उसमे देश की ही नही ससार की भी काफी चर्चा रहे। इससे यह लाभ होगा कि विद्यार्थी के मस्तिष्क पर जाति-पाँति, सम्प्रदाय, पुनरुत्थानवाद, प्रान्तीयता आदि का प्रभाव कम पड़ेगा और वह विज्ञान तथा मानवता के लोक मे अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर सकेगा। विद्यार्थी को भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि की बाते केवल उसके देश को ले कर ही नही बल्कि जहाँ तक हो सके अधिक व्यापक क्षेत्र को ले कर बतानी चाहिएँ। इतिहास के सम्बन्ध मे यह विशेष रूप से आवश्यक है कि उसका अध्ययन-अध्यापन ससार की पृष्ठभूमि पर किया जाय। तभी इतिहास की जानकारी का पूरा-पूरा लाभ विद्यार्थी को मिल सकेगा। इससे यह भी होगा कि लोगों को मध्यकालीन भारत के हिदू-मुसलमानो के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे जो ग़लत धारणाएँ

है वे दूर हो जायँगी। उन्हे एक तो यह मालूम हो जायगा कि अगर कुछ शासको ने दूसरे धर्मो के अनुयायियो के साथ ज़बर्दस्ती की है तो बहुत से अन्य शासको ने उदारता की नीति भी बरती है। दूसरी बात उन्हें यह भी मालूम हो जायगी कि धर्म के क्षेत्र मे इस प्रकार की बाते मध्य युग मे भारत तक ही सीमित नही थी, संसार के अन्य देशो की अवस्था भी ऐसी ही थी। उनमे राजनीतिक घटनाओ की गति-विधि को समझ सकने, उनके रहस्य को जान सकने, की योग्यता भी बढ़ेगी। वे देखेगे कि भारत में मध्यकालीन युद्धो में धर्म के नाम पर जो नारे लगाये जाते थे वे प्रायः वैसे ही थे जैसे आधुनिक युद्धो मे नवयुग, स्वभाग्य-निर्णय, आदि के नाम पर लगाये जाने वाले नारे हैं। युद्ध केवल धर्म के कारण ही नही होते थे, अपने समर्थको की सख्या बढ़ाने और उनमे उत्साह फूँकने के लिए भी धर्म की पुकार उठाई जाती थी।

समाज-विज्ञान का महत्व

सभ्यता का सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक ही नही बौद्धिक विकास से भी है। इसलिए सभ्यता के विकास के साथ जो नई-नई परिस्थितियाँ तथा कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रहती हैं, मनुष्य के दृष्टिकोण में उनके अनुकूल परिवर्तन उपस्थित करते रहने मे शिक्षा बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। परतु इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के विषयो मे समाज-विज्ञान को उसके महत्व के अनुसार उचित स्थान दिया जाय। इससे दो लाभ होगे। एक ओर तो विद्यार्थी में इस तरह की शक्ति का विकास होगा कि जनता की भावनाओ को उत्तेजित करने की मंशा से कही जाने वाली बातो का वह आसानी से शिकार न बनेगा। इससे भारत के विभिन्न सम्प्रदायो के बीच चलनेवाली तनातनी को कम करने में कुछ सहायता तो मिलेगी ही। दूसरा लाभ यह होगा कि विद्यार्थी मे विदेशी प्रभावो का उचित मूल्याकन कर सकने की क्षमता का विकास

होगा। भारत के लिए यह बात कदापि हितकर नही हो सकती कि यूरोप अथवा मध्य-पूर्व के देशो मे जो भी विचार फैले उन्हे फौरन अपने लिए स्वीकार कर लिया जाय। पिछली पीढी के राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं मे प्रोफेसर ग्राहम वैलास का बडा उच्च स्थान है। ये अक्सर कहा करते थे कि भारत को अपने प्रश्नो पर स्वय ही विचार करना पडेगा। इस का मतलब यह नही है कि भारत बौद्धिक क्षेत्र मे ससार से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले या आधुनिकता से दूर रह कर पुनरुत्थानवाद की बात सोचता रहे। और न इसका यही मतलब है कि आधुनिक ससार ने ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र मे जो भारी उन्नति की है उसकी ओर से भारत अपनी आँखे बन्द कर ले। इसका मतलब यही है कि भारत पश्चिम का केवल अनुकरण करके ही अपना उद्धार नहीं कर सकता, उसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की सहायता से अपने वातावरण को दृष्टि मे रखते हुए अपनी समस्याओ पर विचार करना पडेगा। इसके लिए समाज-विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। समाज-विज्ञान की अनेक शाखाएँ हैं जैसे मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान और कानून-विज्ञान। इसके वाद विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो को अधिक से अधिक सख्या मे विभिन्न धर्मो, साहित्यों, कलाओ तथा सस्कृति की अन्य शाखाओ का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। यदि लोगो को एक दूसरे के धर्म के सिद्धान्तो और आदर्शो की जानकारी रहती है तो इससे पारस्परिक सद्भावना मे वृद्धि होती है। यदि भारत के विद्यापीठो मे सस्कृति की प्राचीन परम्पराओ तथा समाज-विज्ञान की आधुनिक विद्याओ का साथ-साथ अध्ययन होगा तो इससे दृष्टिकोण मे उदारता का विकास तो होगा ही, साथ ही नई-नई विचार-धाराओं के विकास मे भी बड़ा काम होगा। इनके फल-स्वरूप धर्म, राजनीति आदि जीवन के सभी विभागो मे लोग उदारता से काम लेना सीखेगे और उनकी नागरिकता की भावना दृढ होगी।

समाज-सुधार

सामाजिक न्याय के क्षेत्र मे सबसे महत्वपूर्ण बात तो शिक्षा का प्रचार ही है, परतु समाज-सुधार का सगठित प्रयत्न भी एक महत्वपूर्ण कार्य है। पिछली दो पीढियो के समय के अदर भारत में स्त्रियो की स्थिति मे सुधार हो गया है। अछूतोद्धार के आदोलन का ज़ोर बढ़ गया है। जाति-पाँति के बंधन ढीले पड़ने लगे है। अगर इसका ज़्यादा तेज़ी से अत होने लगे तो इसका समाज के सभी क्षेत्रो मे अच्छा प्रभाव पड़ेगा। जाति-पाँति के फल-स्वरूप पुरोहितो और पुजारियो का प्रभाव बढता है, लोगो मे ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन मिलता है, और उनके मन मे यह विचार बना रहता है कि समाज मे उनके स्थान का भाग्य ने उनके जन्म के समय ही निर्णय कर दिया है। इसके कारण विभिन्न जातियो के हिन्दू भी अक्सर आपस मे दिल खोल कर बाते नही कर सकते। इस वातावरण का परिणाम बढ़ कर साम्प्रदायिक सम्बन्धों पर भी पड़ता है और अल्प-सख्यक सम्प्रदाय वालो के मन मे बहु-संख्यक सम्प्रदाय वालो के प्रति सदेह तथा अविश्वास की भावना उत्पन्न करता है।

जाति-पाँति और समुदाय

पुरानी व्यवस्था मे उथल-पुथल होने का परिणाम मोटे तौर पर तो यही हुआ है कि जाति-पाँति का बधन ढीला हो गया है, परन्तु कुछ हालतो मे तो इस परिवर्तन-कालीन परिस्थिति मे जाति-पाँति के कारण बनने वाले समुदायो की सख्या अथवा विभिन्नता मे कुछ बढती भी हुई है। पुराने समय मे जाति-पाँति के कई आधारो मे एक आधार एक समुदाय विशेष का एक स्थान विशेष में निवास करना भी होता था। अगर किसी समुदाय को कारणवश अपना पुराना निवासस्थान छोड़

कर कोई नया निवासस्थान वनाना पडता था, तो यात्रा की सुविधाओं की कमी के कारण उसका अपने पुराने पडोस से सम्बन्ध टूट जाता था और वह अपने नये पड़ोसियो की भाषा, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, आदि ग्रहण करके अपने को नये वातावरण के अनुकूल बना लेता था। उसकी या तो अपनी एक उप-जाति (विरादरी) बनी रहती थी और या वह अपने आस-पास की किसी उपजाति या उपजातियो मे घुल-मिल जाता था। आधुनिक युग मे आमदरफ्त की सुविधाएँ बढ जाने के कारण लोगो का वाणिज्य-व्यवसाय अथवा नौकरी के लिए घर से वाहर जाना तो वहुत बढ गया है, परतु अब उनका अपने पुराने स्थान से सम्बन्ध नही टूटता और इसलिए उन्हे अपनी भाषा आदि को नही बदलना पड़ता, यद्यपि इस प्रवृत्ति के कारण उन्हे आर्थिक हानि भी होती है। अन्य प्रान्त मे वस जाने के वाद भी वे अपने समुदाय वालो से ही मिलना-जुलना पसद करते हैं और इसके लिए अपनी सभाएँ और क्लब वनाते रहते हैं। जिनके वीच वे अपना जीवन विताते हैं उनके अतर्तम मे प्रवेश कर सकने योग्य वे नही वन पाते। अभी कुछ समय से विभिन्न उपजातियों के वीच विवाह-सम्बन्ध जुडना भी शुरू हो गया है, परन्तु अभी परिवर्तन-काल समाप्त नही हुआ है। अभी प्रत्येक प्रान्त मे ऐसे लोगो के अल्प-सख्यक समुदाय मौजूद हैं जो अन्य प्रान्त से आकर वहाँ वस तो गये हैं परन्तु जाति पाँति के वन्धनो के कारण उस प्रान्त के लोगो मे मिल नही गये हैं। वेकारी के कारण बढी हुई प्रतियोगिता के फल-स्वरूप उनके और प्रान्त के वहुसख्यक लोगों के वीच मनोमालिन्य तथा कटुता की वृद्धि होती है। चूँकि समाज वहुत से समुदायो मे वॅटा हुआ है, इसलिए व्यक्तियो को उनके कारण उत्पन्न होने वाले भेद-भाव को स्वीकार कर लेने की आदत पड़ जाती है और इस आदत का विभिन्न समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव पडता रहता है।

आर्थिक सुधार

शिक्षा-प्रचार, शिक्षा-सुधार और समाज-सुधार के बाद चौथी बात आर्थिक सुधार की आती है। जनता को उस निर्धनता के पाश से मुक्त करना आवश्यक है जिसके कारण भारत का "रैयत" शब्द जीवन-यापन की निम्न कोटि का पर्याय सा बन गया है और अधिकाश जनता को सुख से रहने या उन्नति करने का अवसर ही नही मिलता। १६३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतवासियो की औसत आमदनी केवल ८० रु० सालाना फी आदमी है और भारत की सम्पत्ति का औसत फी आदमी ४४१ रु० पड़ता है। ससार की वर्तमान परिस्थिति मे निर्धनता तथा निरक्षरता का अटूट सम्बन्ध है। जब तक एक रहेगी तब तक दूसरी भी रहेगी। जनता की हालत सुधारने के लिए उसमे शिक्षा का प्रचार करने और उसकी आमदनी बढ़ाने का साथ-साथ ही प्रयत्न करना पड़ेगा। कृषि की उन्नति के लिए विज्ञान की सहायता लेने का कार्य अब से बहुत पहले शुरू हो जाना चाहिए था। ऐसा करने से कृषको के लाभ मे कई गुनी बढ़ती हो जायगी और साथ ही वे सह-योगपूर्वक कार्य करना भी सीख जायँगे जिसके फल-स्वरूप विभिन्न समु-दायो के बीच मेल-जोल की प्रवृत्ति भी बढ़ेगी। भारत की खेती अभी बड़े पुराने ढंगो से होती है, जिससे पैदावार बहुत कम होती है। किसान को एक ओर तो अपने ही खेत की चिंता करनी पड़ती है, और दूसरी ओर उसके लिए जो कुछ करना होता है वह अपने घरवालों की सहा-यता से स्वयं ही करना पड़ता है। अगर खेती के लिए नये ढंग के यंत्रों का उपयोग किया जाने लगे तो कृषि सम्बन्धी बहुत सी बातो में सह-योग का मार्ग खुल जायगा और किसानो मे व्यक्तिवाद के बजाय सह-योगवाद की मनोवृत्ति बढ़ने लगेगी। कल-कारखानों की बढ़ती का भी लोगों की मनोवृत्ति पर इसी तरह का प्रभाव पड़ेगा। पिछले तीस वर्षों

मे भारत ने उद्योग-धधो मे अच्छी उन्नति की है, परन्तु उन्नतिशील देशो की अपेक्षा वह अब भी बहुत पिछडा हुआ है। कल-कारखानो मे काम करने वालो की सख्या अभी २ करोड से भी कम है और रेलो, जहाज़ो, आदि मे काम करने वालो की ३० लाख से भी कम। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति से भी अभी भारत मे बहुत कम लाभ उठाया गया है। उदाहरण के लिए लोहे के व्यवसाय को लीजिए। सन् १९३६ मे ससार भर की खानो से निकलने वाले लोहे की तुलना मे भारत की खानो से निकलने वाला लोहा १॥ प्रतिशत से कुछ ही अधिक था। और भारत के कारखानो मे तैयार होने वाला फौलाद तो ससार मे तैयार होने वाले फौलाद की तुलना मे १ प्रतिशत से भी कुछ कम ही था। काग्रेस ने अपने प्रान्तीय शासन के दिनो मे नेशनल प्लैनिग कमेटी (राष्ट्रीय आयोजना समिति) नाम की एक कमेटी नियुक्त की थी, जिससे यह आशा की गई थी कि उसकी सिफारिशो से बड़े-बड़े कल-कारखानो की स्थापना मे सहायता मिलेगी। भारत के उद्योग-धधों की उन्नति मे तेजी लाने के लिए कई बातों की आवश्यकता है, जिनमे एक यह है कि ब्रिटेन इस काम मे सहायता देने का रुख अख़्त्यार करे और उसका व्यवसायी समुदाय यह समझ ले कि निर्धन भारत के साथ व्यापार करने की अपेक्षा समृद्धिशाली भारत से व्यापार करने मे उसे कही अधिक लाभ रहेगा। पुराने समय मे यह एक साधारण सी बात थी कि एक देश के व्यवसायी अपने देश के हिताहित की तुलना मे अन्य देशो के आर्थिक हिताहित को कुछ भी महत्व नही देते थे। परन्तु वाणिज्य-व्यवसाय की आधुनिक प्रगति ने स्थिति मे परिवर्तन ला दिया है। जैसे अब गुलामी की प्रथा पुराने समय की बात हो गई है, वैसे ही एक देश के द्वारा दूसरे देश के शोषण की प्रथा भी पुरानी बात होती जा रही है। अगर आज भी यूरोप और जापान मे पूँजीपतियो और व्यवसायियो के ऐसे समुदाय मौजूद हैं जो कही के व्यापार पर अपना एक मात्र अधि-

कार चाहते हैं, या किसी प्रदेश की बाबत यह चाहते है कि उसे ज़बर्दस्ती उनके देश मे मिला लिया जाय, और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, सैनिक प्रतियोगिता तथा भयानक युद्ध के कारण बनते हैं, तो इसकी वजह यही है कि लोगो को अपनी पुरानी आदते बदलने मे और समयानुकूल नई बातो की आदत डालने मे देर लगा करती है। जहाँ तक ब्रिटेन और भारत का सम्बन्ध है, पिछले चद सालो की घटनाओ ने ही इस बात को अच्छी तरह साबित कर दिया है कि निर्धन, अशिक्षित और अपनी रक्षा कर सकने मे असमर्थ भारत ब्रिटेन के लिए जितना लाभदायक हो सकता है उससे अधिक उसके लिए भार-स्वरूप भी हो सकता है।

सहयोग के क्षेत्र

देश के औद्योगिक विकास के साथ यह भी आवश्यक है कि कारख़ानो मे काम करने वालो के लिए इस तरह के नियम बन जाये कि उन्हे काम करते समय उचित सुविधाएँ मिलेगी, उनसे एक वाजिबी वक्त मिसालन आठ घटे से अधिक काम न लिया जायगा, उन्हे एक वाजिबी दर से कम मज़दूरी न दी जायगी, और इस बात का प्रबन्ध किया जायगा कि अगर चोट खा जाने, बीमार पड़ जाने, बेकार हो जाने, या बुढापे के कारण वे काम कर सकने लायक़ न रह जायँगे तो उन्हे भूखो न मरना पड़ेगा। लेकिन जो भी हो, यह लाज़मी है कि कारख़ानो मे काम करने वालो को जाति-पाँति और सम्प्रदाय के भेद-भाव को भुला कर अपने हिताहित की बातो के सम्बन्ध मे अपने यूनिअनो मे मिल कर सहयोगपूर्वक कार्य करना पड़ेगा। हिदुओ और मुसलमानो के अलग-अलग यूनिअन बनाने से तो यूनिअन न बनाना ही अच्छा होगा, क्योकि अलग-अलग यूनिअन रहने से मालिको के लिए यह मुमकिन हो जायगा कि वे दोनो को एक दूसरे से लड़ा कर हिदू और मुसलमान दोनो ही को

कम मजदूरी देते रहे । और जिस तरह मज़दूरों को हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव भुला कर अपने यूनिअन बनाने होंगे उसी तरह मिल-मालिकों, मैनेजरों, कारीगरों, आदि को भी अपने सघ बनाने पड़ेंगे जिनमे साम्प्रदायिकता के लिए कोई स्थान न होगा। आजकल की सीधी-सादी सामाजिक व्यवस्था मे साम्प्रदायिक भेद का जितना महत्व है, उतना औद्योगिक उन्नति के समय मे नही रह जायगा। जब किसान लोग नये ढग के हल, खाद, बीज आदि ख़रीदने के लिए और अपनी पैदावार को अच्छे दामों पर बेच सकने के लिए सहयोगपूर्वक कार्य करना सीख जायँगे तो इससे उनकी आर्थिक अवस्था मे भी सुधार होगा और हिंदू-मुसलमानो के बीच सहयोग तथा सद्भावना की भी वृद्धि होगी। और भी हमपेशा लोगों को आपस के सहयोग के लिए अपना-अपना सगठन करने की जरूरत पडेगी। सन् १९३८ मे सारे ब्रिटिश भारत मे एक लाख से भी कम सहयोग-समितियाँ थी और उनके मेम्बरों की कुल तादाद ४५ लाख से भी कम थी। देश के औद्योगिक विकास के साथ समाज का आर्थिक पुनर्सगठन होने पर इन आँकड़ो मे बडी शीघ्रता से वृद्धि होगी और तब यह मालूम होगा कि लोगों के बीच चली आने वाली बदगुमानी को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय उनके कार्य-क्षेत्र मे सहयोग की स्थापना है।

बदगुमानियो पर प्रहार

गरीबी के दूर होने और उद्योग-धन्धो का विकास होने के फलस्वरूप बहुत सी स्थानीय बदगुमानियाँ भी दूर हो जायँगी जिनके कारण साम्प्रदायिक मनोमालिन्य को बल मिलता रहता है। उदाहरणतः पजाब मे एक क़ानून है जिसकी बदौलत किसान की कर्ज़दारी की बिना पर उससे उसकी जमीन नही छीनी जा सकती और अगर वह उससे छिनती भी है तो किसी खेती-पेशा कौम के आदमी को ही मिलती है। इस

क़ानून से पंजाब के अधिकतर मुसलमान तो ख़ुश हैं लेकिन अधिकतर हिंदू नाराज़ हैं। जब रुपयेवालों के लिए ज़मीदारी के बजाय उद्योग-धंधों में अपना रुपया लगाने के रास्ते खुल जायँगे तो फिर पंजाब के हिंदुओं को भी इस क़ानून से कोई नाराज़ी न रह जायगी। इसी तरह खेती में और किसानों के अधिकारों सम्बन्धी क़ानून में सुधार हो जाने पर उस मनोमालिन्य का भी अन्त हो जायगा जो एक पीढ़ी से अधिक समय से बङ्गाल के हिंदू ज़मीदारों और मुसलमान किसानों के बीच दिखाई पड़ने लगा है। लोगों की आर्थिक अवस्था में सुधार और सहयोग समितियों से ऋण मिलने की सुविधा हो जाने पर मुसलमानों को हिंदू महाजनों से या हिंदुओं को मुसलमान महाजनों से ब्याज की भारी दर पर ऋण लेने की आवश्यकता न रह जायगी।

नवीन वर्गीकरण तथा दृष्टिकोण

देश की आर्थिक अवस्था के सुधार के साथ और विज्ञान के अधिकाधिक उपयोग के कारण लोगों के लिए वाणिज्य-व्यवसाय में नये-नये काम निकलेंगे और पुराने कामों में भी बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ होंगी। इन बातों का देश के सामाजिक वर्गीकरण पर भारी प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। देहातों में पहले समय में ज़मीदार लोग हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मेल-जोल क़ायम रखने में सहायक होते थे। अब उनकी यह शक्ति बहुत घट गई है। भावी सामाजिक व्यवस्था में उनका महत्व और भी कम हो जायगा। मध्यवर्ग की संख्या और शक्ति बढ़ेगी और उसे बेकारी के भूत का, जो आंतरिक संघर्ष को बढ़ाने में सहायक होता है, इतना डर न रह जायगा जितना अब है। परंतु औद्योगिक विकास के फल-स्वरूप सब से अधिक वृद्धि मिल-मज़दूरों की संख्या में होगी। संसार ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में तीखे अनुभव से जो सबक सीखा है उसका अगर ध्यान रक्खा गया तब तो यह वर्ग शुरू से ही

खुशहाल बनाया जा सकता है। और नही तो उसे अपने सगठन के बल पर खुशहाली हासिल करनी पडेगी। परतु दोनो मे से चाहे जो बात हो, यह सम्भावना बहुत अधिक है कि इस वर्ग की दृष्टि भूतकाल के बजाय भविष्य की ओर रहेगी और उसे जितना ध्यान अपने वर्ग के हिताहित का होगा उतना अपने सम्प्रदाय की बातो का नही। इस वर्ग के लिए यह सम्भव है कि वह पुनरुत्थानवाद से अधिक प्रभावित न हो और आधुनिकता को स्वीकार करने मे अधिक सकोच न करे। अगर सब लोगो के लिए शिक्षा का प्रबन्ध होने के बाद ही उनकी आर्थिक स्थिति मे भी सुधार हो जाय, तो सभी सामाजिक समस्याओ का रूप पलट जायगा और विरोध तथा सघर्ष की बाते अपने आप ही गायब हो जायँगी। हिंदू-मुसलिम समस्या के अतर्गत आने वाली कुछ बाते तो, जो आज बड़ी जटिल गुत्थियाँ बनी हुई हैं, अपने आप सुलझ जायँगी और ऐसी पुरानी बाते हो जायँगी कि अगली पीढियो के लोगो को यह समझने मे कठिनाई होगी कि इन बातो को ले कर झगड़ा क्यो रहता था। यह सच है कि मनुष्यो के सगठन तथा दृष्टिकोण मे व्यापक परिवर्तन होने मे समय लगता है, परतु यदि इस उद्देश्य को सम्मुख रख कर ठीक ढग से काम शुरू भी कर दिया जाय तो इस प्रयत्न मात्र का ही जनता की मनोवृत्ति पर अच्छा असर पडेगा और जहाँ गहन अधकार है वहाँ प्रकाश की पहुँच हो जायगी। जब मनुष्य के हृदय मे उच्चतर जीवन की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है तो सकीर्णता के बन्धन अपने आप टूटने लगते हैं, साम्प्रदायिक भेदो की तीव्रता कम हो कर सामञ्जस्य और आधुनिकता का बल बढने लगता है।

देश की रक्षा

आर्थिक पुनर्सगठन से देश की रक्षा के प्रश्न का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्तमान महायुद्ध ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि भारत मे अपने ही

साधनो के बल पर अपनी रक्षा कर सकने की व्यवस्था होनी चाहिए। एक शताब्दी से अधिक समय तक ब्रिटिश जल-सेना की अपार शक्ति के कारण भारत विदेशी आक्रमणो से पूर्णतः सुरक्षित रहा। परंतु अटलांटिक महासागर मे भी और प्रशात महासागर मे भी अन्य राष्ट्रो की भी शक्तिशाली जल-सेनाएँ बन गई हैं जिनके कारण ब्रिटिश जल-सेना का अब सागर पर पहले जैसा आधिपत्य नही रह गया है। गोताख़ोर जहाज़ों और वायुयानो ने ख़ास तौर पर उसके आधिपत्य को धक्का पहुँचा दिया है। स्थल और जल दोनो ही की युद्ध-नीति मे महत्वपूर्ण हेरफेर हो गये हैं और भारत के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह अपनी रक्षा के लिए ऐसी सेना, जल-सेना तथा आकाश-सेना रक्खे जो किसी भी राष्ट्र की सैनिक शक्ति से टक्कर ले सकती हो। यदि भारत मे यह बात अच्छी तरह से समझ ली जाय कि वर्तमान महायुद्ध से, और इससे भी अधिक निकट भविष्य में आगामी महायुद्धो से, उसे कितना ख़तरा है तो देश का दो भागो मे विभाजन किया जाय या नही और केन्द्रीय सरकार मे हिन्दुओ का कितना हिस्सा हो और मुसलमानो का कितना, इस तरह के सवाल तो महत्वहीन हो जायँगे, और देश को अस्त्र-शस्त्रो से भली भाँति सुसज्जित करने की बात अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण हो जायगी। और अगर देश को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाना है तो उद्योग-धंधो की उन्नति करने तथा सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करने की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा क्योकि पहले इनके हुए बिना तो युद्ध-सामग्री का निर्माण हो ही नही सकता। साम्प्रदायिक मतभेद तो शाति-काल की फुर्सत की बात है, बाहर से आक्रमण की वास्तविक आशंका होने पर उसका फौरन अंत हो सकता है। भारत की वर्तमान स्थिति मे जिन बातो की आवश्यकता है उनमे एक यह भी है कि लोग यह समझ ले कि देश को बाहरी आक्रमण का ख़तरा नही है यह बात अब पुरानी हो गई है और पहले की तरह ठीक नही है। यह बात

समझ मे आ जाने पर जनता की मनोवृत्ति वास्तविकता के अधिक निकट रहेगी।

शिक्षितो की बेकारी

शिक्षा-प्रचार, औद्योगिक विकास, इस विकास के फल-स्वरूप होने वाली रेलो, जहाजो, तारघरो और बेको की वृद्धि, वाणिज्य-विस्तार तथा देश-रक्षा की व्यवस्था—इन सब कामो मे इतने शिक्षित लोगो की आवश्यकता पडेगी कि शिक्षितो की बेकारी की समस्या अपने आप हल हो जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि हिंदुओं और मुसलमानो के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न करने वाली एक बात दूर हो जायगी। अब तक शिक्षित लोगो को नौकरी मिलने मे कठिनाई होने के कारण विभिन्न समुदायो की ओर से यह माँग उठती रहती है कि सरकारी नौकरियों मे इतना हिस्सा उनके लिए सुरक्षित रहना चाहिए और इस तरह की माँग के फल-स्वरूप उनके बीच मनोमालिन्य भी उत्पन्न होता रहता है।

आधुनिकता और लोकवाद

शिक्षा के सुधार और विस्तार, उद्योग-धधो की उन्नति और देश-रक्षा की व्यवस्था के फल-स्वरूप देश मे आधुनिकता बढ़ेगी और पुनरुत्थानवाद के कारण लोगो के दृष्टिकोण मे जो सकीर्णता आ गई है, वह बहुत कुछ दूर हो जायगी। कृषि और उद्योग-धधों तथा रेल-तार, जहाज़ आदि की उन्नति का विज्ञान से बड़ा सम्बन्ध है, इसलिए इनकी उन्नति के साथ विज्ञान का अध्ययन करने वाले लोगो की सख्या भी बढेगी। और पुनर्निर्माण के कार्यों मे जितनी वृद्धि होगी उतनी ही लोकवाद के क्षेत्र मे वृद्धि होगी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अप्रासगिक न होगा कि लोकवाद का अर्थ यह नही है कि जो क्षेत्र धर्म का है वहाँ धर्म को उचित महत्व न दिया जाय। उसका अर्थ केवल इतना ही है

कि जिन बातो का केवल लौकिक कल्याण से ही सम्बन्ध है उनको अगर धार्मिक रग न दिया जाय तो अच्छा है, विशेष कर उस देश मे जहाँ के निवासियो मे एक से अधिक धर्मों के अनुयायी है। अगर लौकिक बातो को धर्म से अलग रक्खा जाय तो राष्ट्रीयता की भावना साम्प्रदायिक मतभेदो से मुक्ति पा कर विकसित हो सकेगी और समाज का स्वाधीनता तथा समानता के सिद्धान्तो के आधार पर पुनर्संगठन सम्भव हो जायगा।

शिक्षा, व्यवसाय और देश-रक्षा

आधुनिक परिस्थितियो ने शिक्षा, उद्योग-धंधो तथा देश-रक्षा की व्यवस्था, इन तीनो के बीच ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया है कि तीनो के क्षेत्र मे उन्नति साथ साथ ही हो सकती है। अगर देश मे निरक्षरता का साम्राज्य है तो कारख़ानो के लिए मिस्त्री वग़ैरह काफी तादाद में मिलना कठिन होगा और सेना के लिए भी आधुनिक ढंग के अस्त्र-शस्त्रो का व्यवहार कर सकने वाले सैनिक आसानी से न मिल सकेंगे। शिक्षित आदमी अशिक्षित आदमी की बनिस्बत अच्छी तरह रहना चाहता है और इसलिए शिक्षा के विस्तार से सब तरह की वस्तुओ की माँग बढ़ती है जिससे औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है। उद्योग-धधो और सेना दोनो को कला-कारीगरी की शिक्षा पाये हुए लोगो की आवश्यकता होती है, और इसके परिणाम-स्वरूप जनता मे वैज्ञानिक बातो की जानकारी फैलती और बढ़ती रहती है। आधुनिक अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित सेना रखना और सब लोगो की शिक्षा की व्यवस्था करना, ये दोनो ही बड़े ख़र्चीले काम हैं और सरकार इनका बोझा तभी उठा सकती है जब देश मे उद्योग-धंधो की वृद्धि के फल-स्वरूप उसे काफी आमदनी होती हो। और यह तो स्पष्ट ही है कि देश मे शिक्षा और उद्योग-धंधो की स्थायी उन्नति के लिए यह

आवश्यक है कि उसकी रक्षा कर सकने योग्य शक्तिशाली सेना हो। इसलिए शिक्षा का प्रचार बढाने, उद्योग-धधो की उन्नति करने और सेना को आधुनिक अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित करने का काम साथ-साथ ही चलाना पडेगा। काम को शुरू करने मे आर्थिक कठिनाई निस्सन्देह एक भारी बाधा है। इसको दूर करने का उपाय यह हो सकता है कि व्यवसाय करने वाली कम्पनियो को सरकार, अपनी गारटी के द्वारा, ऋण के रूप मे बडी-बड़ी रकमे प्राप्त करने मे सहायता दे। इसके सिवाय सरकार यह भी कर सकती है कि वह कम्पनियो मे कुछ शेअर खरीद कर उनके प्रबधकर्त्ताओ (डाइरेक्टरो) मे अपने प्रतिनिधि भी रक्खे। इससे लोगो का उन कम्पनियो मे विश्वास जम जायगा और वे उनके शेअर खरीदने को प्रोत्साहित होंगे।

पुनर्निर्माण की प्रगति

जब जीवन मे महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगते हैं तो पुनर्निर्माण मे स्वय ही एक मनोवैज्ञानिक प्रगति उत्पन्न हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य का मस्तिष्क अपनी पुरानी आदतो को छोड़ने लगता है और नये नये निर्माणात्मक कार्यो मे प्रवृत्त होने लगता है। पुनर्निर्माण का उद्देश्य है एक नवीन ससार का विकास जिसमे मनुष्य के स्नेह-बधनो, सहानुभूतियो और अनुरागों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होगा। पुनर्निर्माण मनुष्य की दृष्टि को भूतकाल की ओर से हटा कर भविष्य की ओर फेर देता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से तो यही बहुत बडा लाभ है कि मनुष्य को भूतकाल के बजाय भविष्य की ओर देखने की आदत पड़ जाय, क्योकि इससे पुरानी चली आने वाली समस्याओं को हल करने का काम आसान हो जाता है। जब मनुष्य के क्षितिज की परिधि विस्तृत हो जाती है तो उसकी आत्मा क्षुद्रता और स्वार्थ की भावनाओ से ऊपर उठने लगती है। जब मनुष्यो को किसी कार्य-क्षेत्र मे सहयोग

करना पड़ता है तो वे एक दूसरे को जानने और समझने लगते हैं और फिर अपने को एक दूसरे के अनुकूल तथा उपयुक्त बनाने की भी चेष्टा करते हैं। इससे सामाजिक जीवन का विकास होता है। वह नई-नई बाते ग्रहण करता हुआ विकास के पथ पर अग्रसर होता है। दूसरी ओर व्यक्तियो मे समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्थिर करने वाली भावनाओ का भी विकास होता रहता है। यदि हम हिन्दू-मुसलिम समस्या को इस दृष्टि से देखे तो वह पुनर्निर्माण की बड़ी समस्या के अंतर्गत उसका एक अंग अथवा अंश मात्र दिखाई देगी। जो सुधार स्वय ही वाछनीय बल्कि आवश्यक हैं, उनके हो जाने से हिन्दू-मुसलिम समस्या निश्चित तथा स्थायी रूप से हल हो सकती है। बल्कि हल होने के बजाय कह सकते हैं कि वह बिलकुल लुप्त हो जायगी। इस प्रकार ये सुधार स्वय वाछनीय होने के कारण उद्देश्य भी है और हिन्दू-मुसलिम समस्या को हल करने की दृष्टि से साधन भी कहे जा सकते हैं। इसलिए इन सुधारो को हाथ में लेना राजनीतिज्ञता की दृष्टि से बड़ी बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता का कार्य होगा। जो बाते स्वय ध्येय हो उन्ही को साधन बना लेना भी एक भारी बात होगी।

नवीन समन्वय

सभ्यता की प्रगति को कभी आलोचनात्मक दृष्टिकोण को अधिक महत्व देना पड़ता है और कभी निर्माणात्मक को। जिस समय समाज एक तरह की आदतो, विचारधाराओ और संस्थाओ का त्याग करके परिवर्तन काल से गुज़र रहा हो, उस समय को आलोचना का समय कह सकते हैं। नवीन परिस्थिति के अनुकूल मूल्याकन और विचारधाराएँ स्थापित होने मे कुछ समय लगना अनिवार्य है। अगर पहली व्यवस्था का अपने समय मे कड़ाई के साथ पालन किया गया हो, तो उसका एक परिणाम यह हो सकता है कि समाज नई परिस्थितियो के

अनुकूल अपना पुनर्निर्माण करते रहने की क्षमता को ही थोड़ा-बहुत खो चुका हो। परन्तु जब एक व्यवस्था टूट-फूट जाती है, तो किसी अन्य व्यवस्था का उसका स्थान ग्रहण करना लाजमी है। परिवर्तन-काल में यथेष्ट अथवा बुद्धिमत्तापूर्ण नेतृत्व के अभाव में नवीन व्यवस्था पुरानी व्यवस्था से भी निम्न कोटि की हो सकती है। परन्तु यदि परिवर्तन की क्रिया का बुद्धिमत्तापूर्वक यथेष्ट मात्रा में नियंत्रण हो तो नवीन व्यवस्था पहली की अपेक्षा उच्च कोटि की भी हो सकती है। सामाजिक विकास की इस स्थिति में विवेक का बड़ा महत्व है। मनुष्य के लिए यह सम्भव है कि वह संकट-काल पर विजय प्राप्त करके एक नवीन समन्वय का विकास कर ले।

पाँचवाँ अध्याय

सांस्कृतिक सामंजस्य

सम्पर्क और सहानुभूति

हिन्दू-मुसलिम समस्या को हल करने के लिए जो भी आयोजना सोची जाय, उसमे एक बात का होना आवश्यक है। दोनो के बीच जो दीवारे खड़ी हो गई हैं, जिनके कारण वे न तो एक दूसरे को समझ पाते हैं और न एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रख पाते हैं, उनका टूटना ज़रूरी है। कुछ बातो मे तो उनके बीच पहले भी सम्पर्क बहुत कम था, पुनरुत्थानवाद की धारा ने और बातो मे भी उन्हे एक दूसरे से दूर कर दिया। दोनो के बीच की इस दूरी को अब दूर करना होगा। जिस बात को हम समझते है, उसे सहन भी कर लेते हैं, परन्तु जिसके हम सम्पर्क मे ही नही आते उसे कैसे जानेगे और कैसे समझेगे? जिसे हम समझते नही या जानते नही, उसके प्रति सदेह भी सदा बना रहता है। उदाहरणतः जब कही हिन्दू-मुसलिम दगा होता है तो हिन्दू इस बात पर बड़ी आसानी से विश्वास कर लेते हैं कि यह मुसलमानो के षड्यन्त्र का परिणाम है और इसी तरह मुसलमान यह मान लेते हैं कि यह हिन्दुओ की शैतानी की वजह से हुआ है। मनुष्य का मस्तिष्क अज्ञात तथा अपरिचित बातो के सम्बन्ध मे सदा उनके घृणित और भयानक होने की कल्पना करता रहा है। समाज के व्यक्तियों की सास्कृतिक भावनाओ तथा आकाक्षाओ का उसके राजनीतिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है। उसके विभिन्न समुदाय सास्कृतिक दृष्टि से जितने एक दूसरे के निकट अथवा दूर होगे, उनके बीच राजनीतिक क्षेत्र

मे सहयोग की स्थापना हो सकने मे उतनी ही कम अथवा अधिक कठि-नाई होगी। सास्कृतिक क्षेत्र की कुछ बाते तो ऐसी हैं कि उनमे धीरे-धीरे परिवर्तन होते-होते कालातर मे ही सामजस्य स्थापित हो सकता है, परन्तु कुछ बाते ऐसी भी हैं जिनमे समझौते का, शीघ्र ही सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। हमने हिंदू-मुसलिम समस्या के प्रश्नो को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया था, उनमे से हम यहाँ द्वितीय श्रेणी के प्रश्नो पर विचार कर रहे हैं।

शिक्षा-काल मे साहचर्य

एक दूसरे को समझने की और मिल कर सहयोगपूर्वक कार्य करने की आदत डालने के लिए लडकपन का समय सब से अच्छा है, यह बात इतनी स्पष्ट है कि उसे साबित करने की ज़रूरत नही है। इसलिए लड़कपन मे हिन्दू और मुसलमान लडको को पाठशालाओ और विद्यालयो मे साथ-साथ शिक्षा मिलने से उनमे सहयोग की भावना का विकास हो सकता है। शिक्षा क्या है? प्रोफेसर ऐडम्स का कहना है कि विद्यार्थी का अपने चारो ओर के वातावरण को अपनाना और स्वय उसी वातावरण मे घुल-मिल जाना ही शिक्षा है। विद्यालय ही वह वातावरण है जिसके साँचे मे विद्यार्थी ढलते रहते हैं और इसलिए जिस हलके या क्षेत्र के बालक एक विद्यालय मे शिक्षा ग्रहण करते हैं उसके अन्दर सहयोग की भावना बढती है। इसलिए विद्यालयों को यह चाहिए कि उनका वातावरण किसी समुदाय अथवा सम्प्रदाय का नही बल्कि सारे समाज का वातावरण हो। इससे दो परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि सार्वजनिक—अर्थात् सरकारी और म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के—विद्यालयो मे सब समुदायो, सम्प्रदायो और वर्गों के विद्यार्थियो का समानता के आधार पर प्रवेश होना चाहिए।

लेकिन इतना ही काफी नही है। दूसरी बात यह भी ज़रूरी है कि जो विद्यालय किसी जाति या सम्प्रदाय विशेष के हैं उनके प्रवेश-द्वार भी सब जातियो तथा सम्प्रदायो के विद्यार्थियो के लिए पूरी तरह खोल दिये जायँ। बाय-स्काउट या गर्ल-गाइड बनने वाले लड़कों और लड़कियो को सहयोग की भावना का विकास करने का अवसर विशेष रूप से प्राप्त होता है। हाँ, यह तो कहना ही न होगा कि उनका सगठन साम्प्रदायिक आधार पर न होने पावे। इसी प्रकार इस बात की भी आवश्यकता है कि खेल-कूद के लिए क्लब और टीम साम्प्रदायिक आधार पर न बनने पावे तो अच्छा है। मैचो मे भी हिन्दुओ, मुसलमानों, आदि की टीमे न होनी चाहिएँ।

भाषा का प्रश्न

जब यह कहा जाता है कि विभिन्न सम्प्रदायो के विद्यार्थियो की शिक्षा साथ-साथ होनी चाहिए, तो यह भी आवश्यक है कि शिक्षा का माध्यम एक ही हो और इस प्रकार भाषा का प्रश्न हमारे सामने आ कर खड़ा हो जाता है। भाषा का जीवन के सब विभागो से सम्पर्क रहता है और इसलिए उसका मनुष्य के हृदय की भावनाओ से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सास्कृतिक सहयोग अथवा सामजस्य की समस्या मे भाषा का प्रश्न सब से कठिन तथा महत्वपूर्ण है। सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि विभिन्न समुदायो को एकता के सूत्र मे जोड़ने के लिए इससे ज़्यादा कारगर और कोई बात नही हो सकती कि वे एक ही भाषा को ग्रहण कर लें। पिछले सौ बरसो की घटनाओ से यूरोप मे यह भी साफ़ ज़ाहिर हो गया है कि यदि किसी समुदाय की यह भावना हो कि उसकी भाषा पर आक्रमण हो रहा है—चाहे यह आक्रमण वास्तविक हो और चाहे काल्पनिक—तो इस बात से उसे इतनी नाराज़ी होती है जितनी और किसी बात से नही और वह इस आक्रमण का घोर विरोध करता है

भारत मे कई कारणो से दो हजार वर्षों से साहित्यिक भाषाएँ—संस्कृत, पाली, फारसी और अंग्रेजी—बोलचाल की भाषाओं से भिन्न रही हैं। एक ओर देश इतना विशाल था और उसमे विभिन्न समुदायो के लोग निवास कर रहे थे और लोगो मे शिक्षा की दृष्टि से बड़ी असमानता थी, दूसरी ओर साहित्यिक रचनाओ और शासन तथा राजनीति सम्बन्धी कार्यों के लिए एक भाषा की जरूरत महसूस की जाती थी, ऐसी हालत मे जो कुछ हुआ वह स्वाभाविक ही था। इन साहित्यिक भाषाओं से राष्ट्रीय विकास मे सहायता मिली है। उनके द्वारा शिक्षित लोगो को देश भर के शिक्षित लोगो के साथ विचार-विनिमय करने की सुविधा हुई है और देशव्यापी धर्मो, संस्कृतियों, साहित्यो, कलाओ, शासन-प्रणालियो और राजनीतिक आन्दोलनों का विकास सम्भव हो सका है। लेकिन साथ ही उनके कारण शिक्षित वर्ग तथा साधारण जनता एक दूसरे से कुछ दूर रहे हैं। उन्होंने साहित्य तथा बोलचाल की शैलियों और उनके मुहावरो के बीच अन्तर डाल दिया है जो अब तक चला जा रहा है। पिछली पाँच शताब्दियो मे बोलचाल की भाषाओ मे भी साहित्य की रचना होने से परिस्थिति मे बहुत कुछ परिवर्तन भी हो गया है, लेकिन वह बिलकुल ही बदल नही गई है। विद्यालयो और मकतबो की शिक्षा मे पहले संस्कृत और फारसी के ग्रन्थो का ही प्राधान्य था, और फिर उन्नीसवी शताब्दी मे अंग्रेजी स्कूल क़ायम होने पर उनका स्थान अंग्रेज़ी साहित्य ने ले लिया।

जिन कारणो से साहित्य और बोलचाल की भाषाओ मे अतर बना हुआ है, उन्ही की बदौलत उत्तरी भारत मे हिन्दी और उर्दू के बीच एक खाई बन गई है। सब से पहली बात तो यह है कि हिंदी देवनागरी लिपि मे लिखी जाती है और उर्दू अरबी लिपि मे, इसलिए स्वभावतः हिंदी का आकर्षण संस्कृत की ओर रहता है और उर्दू का अरबी और फारसी की ओर। दूसरी बात यह है कि प्राचीन

परम्पराएँ जितनी साहित्य में टिकती हैं उतनी और किसी क्षेत्र में नहीं टिक सकती। साहित्यिक रचनाओ मे धार्मिक विषयों का प्राधान्य रहने के कारण उनकी भाषा में या तो सस्कृतमयी बनने की प्रवृत्ति होगी और या अरबीमयी। इसी उच्च या कठिन शैली की प्रवृत्ति के कारण जनता की बोलचाल की भाषा को साहित्य मे अपना उचित स्थान नही मिल पाता। तीसरी बात यह है कि बोलचाल की भाषाओं मे सस्कृत और अरबी के आधिपत्य से मुक्ति पाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति तो थी, परतु जब हिंदुओ और मुसलमानो दोनो ही मे पुनरुत्थानवाद की विचार-धारा का ज़ोर बढा और उसने शिक्षा और सस्कृति पर भी अपना सिक्का जमाने की कोशिश की तो यह प्रवृत्ति उससे दब गई। पुनरुत्थान-वाद का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी मोटे तौर पर हिंदुओ की और उर्दू मोटे तौर पर मुसलमानो की भाषा बन गई है या बनती जा रही है। चौथी बात यह है कि जनता में साक्षरता का प्रचार बड़ी धीमी चाल से हो रहा है और इसलिए किताबे और अख़बार निकालनेवालो का ध्यान छोटे से शिक्षित वर्ग की ही ओर रहा है। अगर सब लोगो को शिक्षा देने का प्रबन्ध हो गया होता तो साहित्य की यह कोशिश होती कि वह बोलचाल के और सरल शब्दो को ग्रहण करके साधारण जनता की समझ मे आ सकने योग्य बने। जो हो, साहित्य का साधारण लोगो से सम्पर्क नही हुआ है और इसलिए वह प्राचीन विद्याओ के आधिपत्य से मुक्त नही हो सका है। पाँचवी बात यह है कि पुराने समय मे भी ऐसा होता था और इस ज़माने में भी ऐसा होता है कि परस्पर-विरोधी राजनीतिक प्रवृत्तियाँ अक्सर भाषा और साहित्य को भी अपनी रणभूमि बना लेती हैं। जिस समय हिंदी और उर्दू अपने विकास की एक बड़ी ख़ास मंज़िल से गुज़र रही थीं, ठीक उसी समय उनके बीच की खाई को और भी चौड़ी कर देने के लिए पृथक निर्वाचन-प्रणाली आ धमकी। यदि संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली होती और हिंदुओ और मुसलमानो का

राजनीतिक जीवन एक बना रहता तो सभाओं मे भाषण करने वालों, समाचारपत्रों मे लेख लिखने वालो और राजनीतिक विषयो पर पुस्तके तैयार करने वालो को ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पडती जिसे हिंदू और मुसलमान सभी समझ सके और इसका साहित्य के सभी विभागों पर अच्छा असर पडता। परतु पृथक निर्वाचन-प्रणाली ने सभाओ और भाषणो, अखबारो और किताबो सभी के मामले मे दोनो सम्प्रदायो को एक दूसरे से अलग कर दिया। हिंदी और उर्दू को ज़ो शब्द यूरोपिअन भाषाओं से लेने पड़ेगे उनके द्वारा भी वे किसी हद तक एक दूसरे के निकट आवेगी, लेकिन राष्ट्रीयता और पुनरुत्थानवाद दोनों ही की भावनाएँ विदेशी शब्दों को ग्रहण करने के विरुद्ध हैं। सिनेमा-फिल्मों की प्रवृत्ति निस्सदेह एक ऐसी भाषा का विकास करने की ओर है जिसे सभी सम्प्रदायो तथा समुदायों के लोग समझ सके, परतु अभी सिनेमा की शक्ति इतनी नही हुई है कि वह साहित्यिक शैली पर अपना प्रभाव डाल सके।

शुद्ध भाषा

भाषा शुद्ध होनी चाहिए यानी उसमे दूसरी भाषाओं के शब्द न आने चाहिएँ, इस प्रकार की विचारधारा का जन्म प्रायः राजनीतिक प्रवृत्तियों के कारण हुआ करता है। हाल ही मे टर्की मे राष्ट्रीयता की भावना बढने के कारण वहाँ की भाषा, तुर्की, से अरबी शब्दो का बहिष्कार सा हो गया है। इसी प्रकार ईरान मे राष्ट्रीयता का जोर बढने के साथ यह कोशिश शुरू हो गई है कि उसकी भाषा, फारसी, का फिर वैसा रूप हो जाय जैसा छठी शताब्दी मे, अर्थात् अरब विजेताओ के आने के समय था। हमारे यहाँ हिंदी और उर्दू के बीच विभिन्नता बढने का कारण राजनीतिक क्षेत्र मे भेदभाव या पृथक्करण की भावना का बढना है। लेखको को अपनी शैली को सस्कृतमयी या अरबीमयी बनाने

मे ऐसा सतोप होता है जैसे उन्होंने साम्प्रदायिक क्षेत्र मे कोई विजय प्राप्त कर ली हो। अंतिम बात यह है कि बोलचाल की भाषा इतने समय तक उपेक्षित रहने के कारण इस योग्य नहीं है कि उस मे उच्च कोटि की काव्य-रचना हो सके या दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक विषयों का प्रतिपादन किया जा सके। यह एक वास्तविक कठिनाई है।

दो भाषा या एक ?

बहुत पुराने समय में साहित्य और बोलचाल की भाषाओ का भिन्न-भिन्न होना, फिर दो अलग-अलग लिपियों की मौजूदगी, धार्मिक विषयों की शब्दावली का प्रभाव, पुनरुत्थानवाद की धारा, राजनीति मे पृथक निर्वाचन-प्रणाली और अधिकाश जनता की निरक्षरता—इन सब बातों का मिल कर नतीजा यह हुआ है कि हिंदी साहित्यिको की शैली पर सस्कृत का और उर्दू लेखकों की शैली पर अरबी और फारसी का प्रभाव रहता है। भाषा के प्रश्न को ले कर बगाल, सिंध, आदि मे भी कठिनाई उत्पन्न होने लगी है, लेकिन सब से अधिक कठिनाई उस उत्तरी भाषा के सम्बन्ध मे हो रही है जिसे कोई हिंदी, कोई उर्दू और कोई हिंदुस्तानी के नाम से पुकारता है। यह भाषा बड़ी महत्वपूर्ण है क्योंकि उत्तर में इसे बोलने वालों की सख्या दस करोड़ के लगभग है और दक्षिण मे भी लगभग इतने ही आदमी इसे समझ लेते हैं। देश के प्रायः सभी भागों मे इसे देश की राष्ट्र-भाषा या कौमी ज़बान भी मान लिया गया है, जिससे इसका महत्व और भी बढ़ गया है। यह दलील अकसर पेश की गई है कि हिंदी और उर्दू को अपने-अपने ढंग से उन्नति करने दिया जाय, दोनों के बीच एक कृत्रिम भाषा का निर्माण करने का प्रयत्न असफल रहेगा, समस्या को हल करने का ढंग यही है कि हिंदी और उर्दू दोनों के समर्थक इस सिद्धान्त को मान लें कि हमें भी जीना है और दूसरों को भी जीने देना

है। यह दलील हिंदी और उर्दू को दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ मान लेने या बन जाने देने के पक्ष वालो की है, परतु समाजविज्ञान तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तर्क बडा भ्रमपूर्ण है। इस तर्क के आधार मे यह धारणा है कि विभिन्न समुदायो का यन्त्रवत् साथ-साथ रहना ही उन्हें एक समाज बना देता है। परतु बात ऐसी नही है। समाज के अदर एकता की भावना का होना आवश्यक है। समाज इस आधार पर नहीं चलता कि उसके विभिन्न समुदाय साथ-साथ रहेगे लेकिन एक दूसरे के मामलो से सरोकार न रक्खेगे। समाज के अगो का एक दूसरे से सम्बन्ध रहता है, और मानसिक सम्बन्धो की क्रिया सदा चलती रहती है। समाज अपने अगो के बीच सामजस्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नवान रहता है और जिस मात्रा मे सामजस्य स्थापित हो पाता है उसी मात्रा मे समाज का सचालन सुचारु रूप से होता है। जो लोग स्थायी रूप से साथ-साथ रहते हैं, उनमे यथासम्भव एक ही भाषा मे बोलने और लिखने की जो प्रवृत्ति होती है, वह कोई सयोग की ही बात नहीं है। यह समाज के स्वभाव की विशेषता का ही परिणाम है। जो भी बात इस स्वाभाविक प्रवृत्ति मे बाधा डालती है, वह समाज के मूलाधार पर आघात करती है। समाज के लिए जिस एकता की भावना का होना आवश्यक है, उसको कोई और बात उतना धक्का नही लगा सकती जितना पडोसियो का भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलना। एक दूसरी तरह की मिसाल से बात स्पष्ट हो जायगी। जिससे हम स्नेह की आशा रखते हैं वह अगर केवल शिष्टता का ही प्रदर्शन करे तो यह शिष्टता अशिष्टता से भी अधिक चोट पहुँचाती है। शुरू मे मशा कुछ भी हो, जिन्हे एक हो कर रहना चाहिए वे अगर अपने-अपने रास्ते पर चलने की नीति बरतेंगे तो इसका परिणाम यह होगा कि कुछ समय बाद दोनो अपना-अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगेगे। भाषा के क्षेत्र मे भी साम्राज्यवाद उतना ही चोट पहुँचाने वाला होता है जितना कि राजनीतिक

अथवा आर्थिक क्षेत्र मे और इसका भी परिणाम वही होता है यानी जो पक्ष अपनी भाषा के साथ अन्याय हुआ समझता है वह दूसरे पक्ष से सम्बन्ध तोड़ कर अलग हो जाना चाहता है। इसलिए समाज को उन बातो से मुक्ति दिला देना आवश्यक है जो पडोसियों की एक भाषा की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति मे बाधा उपस्थित करती हैं।

लिपि का प्रश्न

लिपि के सम्बन्ध मे पहली बात तो यह है कि उत्तरी भाषा के क्षेत्र मे सर्वत्र यह व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रारम्भिक पाठशालाओ मे ही हरएक विद्यार्थी को अरबी और देवनागरी दोनो लिपियाँ सिखा दी जायँगी। विद्यार्थी को एक के बजाय दो लिपियाँ सीखने मे कुछ मेहनत ज़रूर ज्यादा करनी पड़ेगी, परतु इससे उसके लिए एक और साहित्य का द्वार खुल जायगा और साम्प्रदायिक सद्भावना मे भी वृद्धि होगी। अगर सभी लोग दोनो लिपियाँ सीखने लगेगे तो यह भावना भी दूर हो जायगी कि यह लिपि हिदुओ की है और यह मुसलमानो की।

समस्या को हल करने का एक और उपाय यह भी हो सकता है कि हिंदी और उर्दू दोनो के लिए रोमन लिपि को स्वीकार कर लिया जाय। अब हमारे देश का ससार के साथ अटूट सम्बन्ध जुड़ गया है, इसलिए हमे इस बात का तो यथेष्ट प्रबंध करना ही पड़ेगा कि हम संसार की घटनाओ से अच्छी तरह परिचित रहें। भविष्य मे ब्रिटेन और भारत का सम्बन्ध चाहे कुछ भी रहे, भारतवासियों के लिए अंग्रेज़ी तथा अन्य यूरोपिअन भाषाएँ सीखने की आवश्यकता तो बढ़ेगी ही। यह निश्चय है कि हमारे देश वालो को अधिकाधिक सख्या मे रोमन लिपि सीखनी ही पड़ेगी। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि जिस तरह सन् १९३१ मे टर्की ने रोमन लिपि को ग्रहण कर लिया है उसी तरह भारत भी उसे क्यों न ग्रहण कर ले। थोड़े से चिन्ह जोड़ लेने से रोमन लिपि

इस योग्य हो जाती है कि उसमे किसी भी भाषा के शब्द ठीक-ठीक लिखे जा सकते हैं। यूरोप मे सस्कृत, अरबी और पाली के सैकड़ों ग्रथ रोमन लिपि मे प्रकाशित हो चुके हैं। अगर रोमन लिपि को भारतीय भाषाओ के लिए ग्रहण कर लिया जाय तो न तो उसमे किसी ध्वनि को व्यक्त करने मे कठिनाई होगी और न उसे ले कर साम्प्रदायिकता अथवा प्रान्तीयता का ही प्रश्न उठेगा। इसके सिवाय उसके द्वारा कई भाषाओं की जानकारी हासिल करने मे आसानी हो जायगी। सब भाषाओ की एक लिपि हो जाने के फल-स्वरूप वे एक दूसरे से दूर-दूर हटने के बजाय एक दूसरे के निकट आने लगेंगी। परतु रोमन लिपि को ग्रहण करने की बात राष्ट्रीयता तथा पुनरुत्थानवाद दोनो ही की भावनाओं के विरुद्ध है। उसे ग्रहण करने मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की एक और विजय तथा अपनी एक और पराजय दिखाई पडती है। यह सम्भव है कि भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद रोमन लिपि को उतने विरोध का सामना न करना पडे जितने का आज करना पडेगा। अस्तु, यह तो आगे की बात है, परतु इस समय इतना भी हो जाय तो अच्छा ही होगा कि विद्यालयो, अदालतों आदि सस्थाओ मे अन्य लिपियो के साथ रोमन लिपि को भी स्वीकार कर लिया जाय। सम्भव है लोगो को रोमन लिपि का व्यवहार कर सकने की स्वतन्त्रता देने भर से ही कुछ गुत्थियाँ सुलझ जायँ और सस्थाओ के काम मे कुछ सहूलियत हो जाय।

पारिभाषिक शब्द

जब हम लिपि के प्रश्न से भाषा के प्रश्न पर आते हैं, तो देखते हैं कि भौतिक विज्ञान तथा समाजविज्ञान की विविध शाखाओ के लिए पारिभाषिक शब्द तैयार करने मे भारत की सभी भाषाओ को कठिनाई हो रही है। इस कार्य मे हिंदी सस्कृत के शब्द-भाडार से सहायता ले रही है और उर्दू अरबी-फारसी के शब्द-भाडार से, और इस प्रकार दोनों

एक दूसरे से दूर होती जा रही हैं। दोनो के लिए उचित यह होगा—और यही प्रणाली स्वाभाविक भी कही जायगी—कि वे बोलचाल की भाषा मे पारिभाषिक शब्दों की खोज करें। इस तरह गणित, विज्ञान और दर्शन मे बहुत से शब्द ऐसे हो जायँगे जो हिंदी और उर्दू दोनो मे प्रचलित हो सकेंगे, और ये शब्द उनके अपने होने के कारण उनके गौरव को बढाने वाले भी होगे। जिन पारिभाषिक शब्दो के लिए बोलचाल की भाषा से सहायता न मिल सके, उनके लिए संस्कृत और अरबी फारसी से मदद लेनी चाहिए, लेकिन कोशिश यह होनी चाहिए कि इस प्रकार बनने वाले शब्द हिंदी और उर्दू दोनो मे प्रचलित हो जायँ। पारिभाषिक शब्दो मे ऐसे शब्द होते हैं जिनका अर्थ बहुत कुछ मिलता-जुलता होता है, लेकिन जिनके बीच कुछ बारीक भेद भी रहता है। अगर संस्कृत और अरबी-फारसी के उन शब्दों को, जिनका अर्थ मोटे तौर पर एक सा है, ग्रहण करते समय यह तै कर लिया जाय कि हिंदी-उर्दू मे उनका ठीक-ठीक अर्थ यह होगा तो वे हिंदी और उर्दू दोनों की ही सम्पत्ति बन जायँगे और साथ ही अर्थ-भेद की बारीकी को प्रकट कर सकने वाले समानार्थक शब्दों की समस्या भी हल हो जायगी। परन्तु आज पारिभाषिक शब्दो की संख्या इतनी बढ़ गई है और यूरोप तथा अमरीका के विज्ञान के ग्रथो मे बहुत समय तक प्रयुक्त होते-होते उनके अर्थ इतने निश्चित तथा स्पष्ट हो गये हैं कि उनमे से बहुतों के लिए संतोषजनक पर्याय संस्कृत या अरबी-फारसी की सहायता से नही गढ़े जा सकते। इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों की बाबत अच्छा यही होगा कि उन्हें उसी रूप मे ग्रहण कर लिया जाय जिस रूप मे कि वे यूरोपिअन भाषाओ मे प्रचलित हो चुके हैं। इससे विद्यार्थियो को बड़ी सहायता मिलेगी, क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का युग आ चुका है और विज्ञान की किसी एक शाखा में कार्य करने वाले विभिन्न देशो के कार्यकर्त्ता एक दूसरे के काम की जानकारी रखने की

कोशिश करते हैं और इस प्रकार विभिन्न भाषाओं मे विज्ञान के पारिभाषिक शब्द प्राय एक ही रूप मे प्रचलित हो गये हैं। इस प्रकार के शब्दों को ग्रहण कर लेने से हिंदी, उर्दू तथा अन्य भारतीय भाषाओं को एक दूसरे के निकट आने मे सहायता मिलेगी। इस सम्बन्ध मे एक भारी कठिनाई भी है। यूरोप (और अमरीका) की भाषाएँ प्राचीन ग्रीस और रोम की भाषाओ से सम्बन्धित होने के कारण आपस मे उसी तरह मिलती जुलती हैं जिस तरह भारतीय भाषाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। इसलिए यूरोपिअन भाषाओ मे प्रचलित पारिभाषिक शब्द भारतीय भाषाओ मे उतनी अच्छी तरह नही खप सकेंगे जितनी अच्छी तरह कि वे यूरोपिअन भाषाओ मे हिल-मिल गये हैं। परन्तु उनके रूप मे थोडा सा हेर-फेर कर लेने से यह कठिनाई हल हो सकती है। फिर भी उन शब्दो मे जो थोड़ी सी विचित्रता शेष रह जायगी, वह धीरे-धीरे अभ्यास से दूर हो जायगी। हिंदू-मुसलमानों के बीच सद्भावना होने पर इस प्रकार का वैज्ञानिक शब्दकोश तैयार हो सकता है जिसमे बोलचाल की भाषा, सस्कृत, अरबी, फारसी और यूरोपिअन भाषाओ से पारिभाषिक शब्दो का सग्रह किया गया हो और जिसे द्राविड भाषाओ के अतिरिक्त भारत की अन्य सभी भाषाओ के लिए स्वीकार कर लिया जाय। यदि हिंदी और उर्दू मे आवश्यक बातों के लिए एक सी शब्दावली स्थिर हो जाय तो उत्तरी भारत मे विश्वविद्यालय तक की पढ़ाई के लिए अग्रेजी के बजाय मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है। अगर दोनों अलग-अलग रास्तो पर चलेगी तो समय, शक्ति तथा धन का अपव्यय तो होगा ही, हिंदुओ और मुसलमानो के बीच सद्भावना की भी कमी रहेगी।

साधारण साहित्य

विज्ञान के क्षेत्र को छोड़ कर जब हम साधारण साहित्य के क्षेत्र मे आते हैं, तो देखते हैं कि उसमे मोटे तौर पर तीन तरह की शैलियाँ

प्रचलित हैं। एक शैली तो हिंदी की है जिसमे सस्कृत शब्दो का बाहुल्य है। दूसरी शैली अरबी-फारसी के शब्दो से लदी हुई उर्दू की है। तीसरी शैली बोलचाल वाली भाषा की है जिसमे सस्कृत या अरबी-फारसी से निकले हुए भी बहुत से शब्द हैं परन्तु उनकी बाबत लोगो का ध्यान इस बात की ओर नही रहता कि वे संस्कृत के हैं या अरबी-फारसी के। पहली और दूसरी शैलियो के चलते रहने का एक बड़ा कारण यह है कि पाठको की सख्या छोटी है और उनमे ऐसे लोग बहुत हैं जिन्हे कठिन भाषा की जानकारी हासिल करने के लिए फुर्सत है। जब पाठको की सख्या बढ़ेगी और जिन लोगो के पास अधिक अवकाश नही है वे भी पाठक बनेंगे, तो लेखको की शैली मे सरलता की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो जाने की आशा की जा सकती है।

इसलिए साधारण साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध मे सब से मुख्य बात यह है कि ज्यो-ज्यो जनता मे साक्षरता बढेगी त्यो-त्यो पाठको की सख्या बढ़ेगी और इसके साथ ही सरल भाषा मे लिखे गये साहित्य की माँग बढेगी। ज्यो-ज्यो पाठको, श्रोताओ और दर्शको की सख्या बढ़ेगी त्यो-त्यो समाचारपत्र, कहानी, उपन्यास, भाषण, थिएटर, सिनेमा, आदि सब को सस्कृत और अरबी-फारसी के प्रभाव से मुक्त होना पड़ेगा। उनको बोलचाल की भाषा के निकट आने की कोशिश करनी पड़ेगी और इस तरह हिंदी और उर्दू दोनो एक जैसा जामा पहनने लगेगी। अगर राजनीतिक क्षेत्र मे सयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली जारी हो जाय और हिदू-मुसलमानो के ताल्लुक़ात मे सुधार हो जाय, तो इस सरलता की क्रिया मे तेज़ी भी आ सकती है। तब किसी राजनीतिज्ञ के लिए यह बात समझदारी की न होगी कि वह अपने निर्वाचको से सस्कृतमयी हिंदी या अरबीमयी उर्दू मे भाषण करे। साधारण राजनीति की भाषा जिस प्रकार अँग्रेज़ी से काग्रेस, लीग, आदि शब्द ग्रहण कर चुकी है, उसी प्रकार उसे और भी बहुतेरे शब्द ग्रहण करने पड़ सकते

हैं, जैसे वोट, कौंसिल, असेम्बली, पार्लामेन्ट, रिज़ोल्यूशन, एडजर्नमेन्ट, बजट, पबलिक, कमेटी, मीटिंग, आदि। अगर हिंदी और उर्दू एक दूसरे से भी शब्द ग्रहण करे तो इससे दोनो के शब्द-भाडार की वृद्धि होगी। प्रत्येक भाषा का विकास होता रहता है और इस विकास की क्रिया मे उसमे परिवर्तन भी होते रहते हैं। अब तक जो दो धाराएँ साथ-साथ बहती रही हैं, या तो उनका सगम होगा और नही तो भाषा का विकास रुक जायगा। भाषा के विकास ही मे तो जाति की सजीवता, राष्ट्र की शक्ति दिखाई पडती है। जो भाषा अपनी बहिनो के सम्पर्क मे आने या उनके साथ आदान-प्रदान करने मे सकोच अथवा सकीर्णता का प्रदर्शन करती है उसमे निर्जीवता आने लगती है। जब साम्प्रदायिक वादविवाद की उत्तेजना दूर हो जायगी तब यह बात समझ मे आने लगेगी कि फारसी के छोटे-छोटे सरल और मधुर शब्दों का बहिष्कार करने मे न हिंदी का लाभ है और न सस्कृत के सुदर और भावपूर्ण शब्दो का त्याग करने मे उर्दू का। हिंदी के पुराने कवियो ने अपनी रचनाओ मे अरबी और फारसी के सैकडो शब्दो का व्यवहार किया है। दाग़, ज़ौक मीर आदि उर्दू शायरो ने ग़ज़लो और शेरो मे सुन्दर भाव-व्यञ्जना के साथ भाषा की वह सफाई दिखाई है कि उसे चाहे उर्दू कह लीजिए और चाहे हिंदी।

साहित्यिक शैलियाँ

अब तक जो कुछ कहा गया है उसका मतलब यह हरगिज़ नही है कि सभी प्रकार के विषयो अथवा पाठको के लिए एक ही प्रकार की शैली काम दे सकती है। लेखक को अपनी शैली विषय के अनुसार या पाठकों की योग्यता तथा रुचि के अनुसार बनानी ही पड़ती है। परन्तु शैली का अन्तर एक बात है, जान-बूझ कर बोलचाल की भाषा से दूर रहना या शैली मे बनावटीपन लाना और बात है। उदाहरणत:

सस्कृत मे तो लम्बे-लम्बे समासो का प्रयोग बड़ी साधारण सी बात है, परन्तु हिंदी मे इस प्रकार के समास अच्छे नही लगते। इसी प्रकार अरबी मे बहुत से शब्दो का बहुवचन ऐसा बनता है कि एकवचन वाले रूप से बहुत भिन्न हो जाता है। जो लोग अरबी की जानकारी नही रखते उन्हे अक्सर किसी शब्द से परिचित होते हुए भी उसके बहुवचन-सूचक शब्द का अर्थ समझने मे कठिनाई होती है। कठिन हिंदी या उर्दू को ठीक से समझ सकने के लिए अक्सर संस्कृत या अरबी-फारसी के व्याकरण के नियमो की थोड़ी बहुत जानकारी दरकार होती है। भाषा मे इस बात की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि उसमे शैलियो की अनेकरूपता हो, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही है कि जहाँ किसी सरल और सब की समझ मे आ जाने वाले शब्द से काम चल सकता हो, वहाँ अकारण ही एक विद्वत्तापूर्ण, क्लिष्ट शब्द बिठा दिया जाय। सरल और साधारण शब्दो की जगह संस्कृत या अरबी-फारसी के शब्दो की, उनके शुद्ध रूप मे, भरमार करने की कोशिश का मतलब अक्सर यह होता है कि कई शताब्दियो से भाषा के क्षेत्र मे जो विकास होता रहा है उसकी धारा को पलट दिया जाय। स्वाभाविक शैली का अर्थ तो यह है कि भाषा के क्षेत्र में वास्तविकता की ओर से आँखे न बन्द की जायॅ और जो भी शब्द व्यवहार मे चालू हो गये हैं उन सब का बिना संकोच या पशोपेश के उपयोग किया जाय, उनकी बाबत अब यह सवाल न उठाया जाय कि वे संस्कृत से आये है या अरबी-फ़ारसी से। जब पढना लिखना जानने वाले लोगो की सख्या बढ़ेगी और लोकभाषा में लिखे गये साहित्य की माँग बढ़ेगी तो इस स्वाभाविक शैली का पक्ष और भी प्रबल हो जायगा। इस बात की भी बहुत सम्भावना है कि राजनीतिक और सामाजिक विषयो के साहित्य की माँग बढने पर आलकारिक शैली मे लिखने की प्रवृत्ति कम हो जायगी और इस प्रकार हिन्दी और उर्दू की शैलियो का पार्थक्य कम होने लगेगा। यहाँ इतना

और कह देना अप्रासगिक न होगा कि आलकारिकता या सजावट का मोह और शैली मे शुद्धता और स्वच्छता लाने की इच्छा, ये दोनो एक बात नही हैं।

भाषा के प्रश्न का राजनीतिक पहलू

स्वाभाविक शैली का साहित्यिक दृष्टि से भी समर्थन किया जा सकता है और राजनीतिक दृष्टि से भी यही वाछनीय है। जिस प्रकार राजनीति मे पार्थक्य या भेदभाव की प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ रक्खा है उसी तरह अगर साहित्य के क्षेत्र मे कृत्रिमता की वर्तमान प्रवृत्तियों की विजय हो गई तो हिन्दी केवल हिदुओ की भाषा रह जायगी और उर्दू हिदुस्तान भर के मुसलमानों की भाषा बन जायगी। जो लोग धर्म की दृष्टि से दो सम्प्रदायो मे बॅटे हुए हैं उनका भाषा और उसके फल-स्वरूप सस्कृति के क्षेत्र मे भी दो दलों मे विभाजित होना अच्छी बात न होगी। जो लोग हिदुओ और मुसलमानो को दो कौम मानना चाहते हैं उनका पक्ष और भी प्रबल हो जायगा, और हिन्दु-मुसलिम समस्या आज की अपेक्षा दुगनी नही दसगुनी कठिन हो जायगी। कुछ लोग कभी-कभी स्विटजरलैंड की मिसाल पेश करके यह दलील दिया करते हैं कि वहाँ के निवासियो मे तीन-तीन भाषाएँ रहते हुए भी उनकी जातीयता या राष्ट्रीयता मे कोई बाधा नही पड़ती। ये लोग यह भूल जाते हैं कि स्विटजरलैंड मे फ्रेंच, जर्मन और इटालियन भाषाएँ बोलने वाले लोग अलग-अलग प्रदेशो या ज़िलो मे बॅटे हुए हैं, लेकिन हिन्दुस्तान मे तो हिन्दू और मुसलमान सब जगह साथ-साथ ही बसे हुए हैं। भारत के लिए तो चैकोस्लोवेकिया की मिसाल ज्यादा लागू हो सकती है। इस देश के निवासियो ने अपने बीच भाषा सम्बन्धी एकता अथवा सामजस्य स्थापित करने का विशेष प्रयत्न नही किया। राजधानी, प्रेग नगर, मे दो विश्वविद्यालय थे—एक चैक लोगो का और दूसरा जर्मन-भाषा-

भाषियों का। नतीजा यह हुआ कि देश टुकड़े-टुकड़े हो गया और उसे जर्मनी ने अपने अधिकार में कर लिया है।

साहित्यिक विषय

हिन्दी और उर्दू में शब्दों की क्लिष्टता और शैली की कृत्रिमता दूर हो कर स्वाभाविकता आ जाने से दोनों के बीच साहित्यिक रचनाओं के विषयों में भी समानता आने लगेगी। कोई जीवित साहित्य इस बात से संतोष नहीं कर सकता कि वह प्राचीन विद्या की बातों को दोहरा कर ही निर्माण करने का ढोंग करता रहे। उसे अपने अंदर से इस बात की प्रेरणा मिलती रहती है कि वह काव्य, कथा-साहित्य, समाज-शास्त्र, दर्शनशास्त्र, आदि विचार-जगत और साहित्यिक क्षेत्र के विभिन्न विभागों में नये-नये विषयों को ले कर उन पर कुछ नई बातें कहे। जैसे-जैसे भारत की भाषाओं के साहित्य में वर्तमान जगत और आधुनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातों की मात्रा बढ़ेगी, तैसे-तैसे उनके विषयों, उनकी विशेषताओं और उनके वातावरण का अंतर कम हो कर उनके बीच समानता बढ़ेगी। तब हिन्दी और उर्दू का विरोध दूर हो कर वे आपस में ताने-बाने की तरह मिलने लगेंगी।

मानवतावाद

जो प्रवृत्तियाँ उसकी एकता को नष्ट करने, उसे खंड-खंड कर देने की कोशिश में लगी हुई है, उन पर अगर भारत विजय प्राप्त कर ले तो वह संसार की संस्कृति को एक बहुत बड़ी देन या भेंट अर्पण कर सकता है। वह भेंट होगी हिन्दू, मुसलिम और आधुनिक संस्कृतियों के समन्वय या मेल के फल-स्वरूप विकसित होने वाला मानवतावाद। जब हमारे अंदर संस्कृति की विभिन्नताओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने और उनका आदर करने की प्रवृत्ति बढेगी, तो हमारे विद्वान और

पडित सस्कृत, अरबी और फारसी ही नही यूरोपिअन भाषाओ के साहित्यो की भी जानकारी हासिल करने की कोशिश करेंगे और प्राचीन भारत मे, मध्यकालीन मुसलिम जगत मे और आधुनिक यूरोप मे जो कुछ भी ग्रहण करने योग्य है उसे अपनाना चाहेगे। इस प्रकार विकसित होने वाला मानवतावाद ही वास्तव मे पुनरुत्थानवाद को हटा कर उसकी जगह ले सकता है। इसी बात को दूसरी तरह से यो भी कह सकते हैं कि पुनरुत्थानवाद की जो दो धाराएँ चल रही हैं वे अगर उदार, व्यापक और उन्नतिशील दृष्टिकोण से प्रभावित हो तो उनका सगम हो कर एक ऐसी सास्कृतिक धारा बन सकती है जो हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो को अपनी ओर खींच सकेगी और उन्हे आगे ले जा कर मानवता के विशाल जीवन मे पहुँचा देगी। पुरानी बातो को फिर से ज्यो का त्यो लाने की कोशिश करना असली पुनरुत्थान नही है। असली पुनरुत्थान तो यह होगा कि भारत की विचार-शक्ति और सस्कृति मे फिर से नया जीवन आ जाय, उसका समाज जीवन के आदर्शो का समन्वय करने मे समर्थ हो और फिर विश्वव्यापी मानव समाज मे अपना उचित स्थान ग्रहण के उसकी भावी उन्नति मे सहायता और सहयोग प्रदान करे।

छठा अध्याय

राजनीतिक समझौता

शीघ्रता की आवश्यकता

हिन्दू-मुसलिम समस्या के दो पहलुओ पर हम विचार कर चुके। पहली श्रेणी मे वे प्रश्न आते हैं जो शिक्षा का प्रचार बढने, लोगो की माली हालत सुधरने और देश-रक्षा की समुचित सैनिक व्यवस्था होने से अपने आप हल हो जायेंगे। परन्तु शिक्षा, समृद्धि और सैनिक तैयारी, इन तीनो ही क्षेत्रो मे देश को आगे बढाने के लिए एक आयोजना बनाने और उसके अनुसार शीघ्र ही कार्यारम्भ करने की आवश्यकता है। दूसरी श्रेणी के अंतर्गत वे प्रश्न हैं जिन्हे हल करने के लिए उस सास्कृतिक सामजस्य की आवश्यकता है जिसका आधार स्वतंत्रता और मानवता हो और जिससे कृत्रिमता तथा सकीर्णता को प्रोत्साहन न मिल सके। इनके बाद अब हम समस्या के तीसरे पहलू को लेते है जिसके अदर राजनीतिक प्रश्न आते हैं। इन प्रश्नो का पहली और दूसरी श्रेणियों के प्रश्नो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु इनकी बाबत यह भी मुमकिन है कि देश की मुख्य-मुख्य राजनीतिक अथवा साम्प्रदायिक सस्थाएँ, देशी नरेश तथा सरकार मिल कर, आपस मे बातचीत करके, इन्हे समझौते के द्वारा हल कर ले। राजनीतिक समझौता शीघ्र ही हो जाना आवश्यक है, यह तो ऐसी स्पष्ट बात है कि उस पर तर्क-वितर्क करना व्यर्थ होगा।

युद्ध और उन्नति

यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि इस समय राजनीति मे जो अवाछनीय स्थिति उत्पन्न हो गई है और जिसके कारण राजनीतिक प्रगति बिलकुल रुक गई है, उसका एक बडा कारण यह है कि सन् १६२७ से टालमटूल की नीति का बोलबाला रहा है और सतोपजनक समझौते की बात लगातार टलती रही है। इसके बाद महायुद्ध छिड गया। कठिन प्रश्नो का युद्ध-काल मे निर्णय नही हो सकता और इसलिए उन्हे युद्ध समाप्त होने तक स्थगित कर देना चाहिए, यह नीति पहले भले ही ठीक रही हो लेकिन युद्धो का आधुनिक काल मे जो रूप हो गया है उसने तो इस नीति को बिलकुल दकियानूसी बना दिया है। जिस समय युद्ध स्थायी सेनाओं के सैनिको के बीच होते थे, उस समय यह नीति ठीक थी। सन् १६१४ मे युद्ध के स्वरूप मे भारी उलटफेर हो जाने के बाद भी यह नीति काम दे सकती थी। आज भी अगर चद हफ्तो या चद महीनो चलने वाला छोटा-मोटा युद्ध छिडा हो, तो इस नीति मे कोई बुराई की बात नही है। परन्तु वर्तमान महायुद्ध तो इस तरह का युद्ध नही है। यह तो वर्षो चलने वाला युद्ध है और इस बीच युद्ध मे भाग लेने वाले राष्ट्रों को अपनी सारी शक्ति और अपने सारे साधनों को जुटा कर उनका उपयोग करने की आवश्यकता है। अब सैनिकों और दूसरे लोगो के बीच कोई अन्तर नही रह गया है। सभी को सैनिक बनना पड सकता है या युद्ध की तैयारी मे किसी और तरह से भाग लेना पड़ सकता है। जब युद्ध मे विजय प्राप्त कर सकने के लिए सबके सहयोग की आवश्यकता है, तो यह स्वाभाविक ही है कि अगर सामाजिक व्यवस्था मे कोई त्रुटि अथवा अन्यायपूर्ण बात है तो उसकी ओर सब का ध्यान आकृष्ट होगा और उसे दूर करने की प्रवृत्ति भी होगी। बरसो चलने वाले युद्ध मे बीच-बीच मे चिंताजनक अवसर भी उपस्थित हो जाते हैं

और अगर पहले से चले आने वाले वाद-विवादो या झगड़ो की बाबत समझौता नही हो पाया है तो ऐसे मौक़ो पर वे घोर असंतोष अथवा अशाति का भी रूप धारण कर सकते हैं। यदि बहुत समय तक समझौता न हो और इसके फल-स्वरूप राजनीतिक प्रगति रुकी रहे, तो लोगो का वाद-विवाद तथा विचार-विनिमय द्वारा आगे बढने के ढंग से विश्वास हटने लगता है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे फैली हुई अराजकता की भावना देश की आतरिक राजनीति मे भी प्रवेश करने लगती है। अगर इस दृष्टि से विचार किया जाय तो यह मालूम होगा कि युद्ध-काल मे उन्नति तथा सुधार के प्रयत्नो को रोक देने के बजाय उन्हे आगे बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिए। यही कारण है कि महायुद्ध के रहते हुए भी ब्रिटेन मे शिक्षा, बीमा, आर्थिक नियंत्रण बल्कि समाज-वाद के प्रश्नो को ले कर सुधार की कुछ बाते तो निश्चित हो गई हैं और कुछ बातो पर विचार हो रहा है। युद्ध के समय सुधार की बातो को टालने की नीति के विरोध मे एक और भी ज़बर्दस्त दलील है। आधुनिक युद्ध मे राष्ट्र को इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह देश के उद्योग-धधो, वाणिज्य-व्यवसाय, आर्थिक संगठन, आदि सभी साधनो को युद्ध की आवश्यकताओ के अनुकूल बना ले। युद्ध की समाप्ति के बाद इन सबको फिर शाति-काल की आवश्यकताओ के अनुकूल रूप देना होगा। जिस प्रकार युद्ध छिड़ने पर राष्ट्रो के सम्मुख पुनर्संगठन का भारी कार्य था, उसी प्रकार युद्ध समाप्त होने पर भी उन्हे वैसे ही भारी काम का सामना करना पड़ेगा। यह काम स्वयं ही बहुत भारी होगा, उसे बिला ज़रूरत और भारी बनाना ठीक न होगा। जो प्रश्न युद्ध छिड़ने के पहले ही हल हो सकते थे या युद्ध के समय मे भी हल हो सकते हैं, उन्हे युद्ध की समाप्ति तक लटकाये रखने का नतीजा यही हो सकता है कि युद्ध के बाद का भारी काम और भी भारी हो जायगा।

राष्ट्र और आतरिक सघर्ष

चाहे युद्ध का समय हो और चाहे शाति का, राष्ट्र या सरकार के लिए यह उचित नही हो सकता कि वह आतरिक सघर्ष के प्रति तटस्थ दर्शक बन कर तमाशा देखे। राष्ट्र के भीतर निर्माणात्मक सहयोग होना चाहिए और विविध सस्थाओ या समुदायो के बीच ज़रूरत पडे तो पच-फैसला हो सकने की व्यवस्था होनी चाहिए। भारत मे उन राजनीतिक सुधारो का हो जाना आवश्यक है जिनसे साम्प्रदायिक झगडो का अत हो जाय, बहुत अर्से से चले आने वाले वाद-विवाद तै हो जायँ, और राष्ट्र की शक्ति सामाजिक उन्नति तथा देश-रक्षा सम्बन्धी कार्यों मे लग जाय। ब्रिटिश सरकार की यह नीति कि पहले विभिन्न समुदायों के बीच समझौता हो और तब राजनीतिक उन्नति, मनोविज्ञान के नियमो की उपेक्षा ही नही करती, बल्कि उन्हे उलट देना चाहती है। सब देशो का अनुभव यह बताता है कि अगर निर्णय बिलकुल अन्यायपूर्ण न हो तो उसमे कुछ त्रुटियाँ रहते हुए भी प्रायः यह होता है कि सभी समुदाय उसमे कुछ सुधार कराने की कोशिश करते हैं और फिर थोडे ही समय मे उनके बीच एक कामचलाऊ समझौता हो जाता है। उसका परिणाम यह हो सकता है कि राजनीतिक दल शक्ति के बँटवारे के सम्बन्ध मे झगडते रहने के बजाय उस शक्ति का उपयोग करने मे लग जायँ, जिससे एक ओर तो देश की आर्थिक उन्नति मे सहायता मिल सकती है और दूसरी ओर ऐसे राजनीतिक दलो का निर्माण हो सकता है जो सम्प्रदायो के नही राजनीतिक सिद्धान्तो के आधार पर बने हो। उसका परिणाम यह भी हो सकता है कि काग्रेस और मुसलिम लीग का नियत्रण ढीला हो जाय, उनके अदर एक से अधिक दल हो जायँ, और निर्वाचन की टक्कर मे दोनो ओर हिंदुओ और मुसलमानो के सयुक्त दल हो।

भारतीय राजनीति मे इस समय सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि उन्नति के पहिये जो दलदल मे फँस गये हैं वे किसी तरह फिर चल निकलें। निपटारा होने मे देर होने का नतीजा यह हुआ है कि जो बाते पहले सर्वमान्य थी अब वे भी विवादग्रस्त हो गई हैं। भारत एक देश है, उसके विभिन्न सम्प्रदायो के निवासियो के बीच सद्भावना की आवश्यकता है, देश के लिए एक सघ-सरकार होनी चाहिए, शासन-प्रणाली का पार्लामेंटरी ढग का होना वाछनीय है, राजनीति को धार्मिक मतमतान्तरो मे अलग रहना चाहिए—इन बातो पर भी आज मतभेद दिखाई पड़ने लगा है। अगर निपटारे मे और भी देर हुई तो अव्यवस्था और भी बढ़ सकती है या यह भी हो सकता है कि मुसलमान हिंदुओ पर या हिंदू मुसलमानो पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। ऐसा होने से ब्रिटिश सरकार के लिए युद्ध-काल मे भी और उसके बाद भी एक घोर कठिनाई उत्पन्न हो जायगी।

न्यायपूर्ण निपटारा

ज्यो-ज्यो वे भारत के भीतर और बाहर की स्थिति को ठीक-ठीक समझते जा रहे हैं, त्यो-त्यो बहुत से राजनीतिक हलक़ो का समझौते की ओर झुकाव होने लगा है। मॉरले ने एक बार एक बात कही थी जो हमेशा के लिए ठीक है—राजनीति मे जो बात सब से अच्छी होती है वह प्रायः सम्भव नहीं होती और इसलिए कुछ कम अच्छी बात से ही सतोप करना पड़ता है। यह सच है कि कभी-कभी किसी अच्छी बात के मोह मे पड कर उससे ज़्यादा अच्छी बात को खो देना पड़ता है, परन्तु यह भी सच है कि कभी-कभी सब मे अच्छी बात पर ही अड़ने का नतीजा यह होता है कि सब से ख़राब बात हो जाती है। यह सच है कि वाद-विवाद के बहुत समय तक चलते रहने के फल-स्वरूप विभिन्न समुदायो की माँगे बहुत चढ़ गई हैं और उनके

साथ धमकियाँ भी जुड गई हैं, इसलिए अब यह सम्भव नही है कि कोई भी निपटारा तत्काल सर्वमान्य हो सके। परन्तु यदि वह न्यायपूर्ण है तो सभी समुदायो के वे लोग जो राजनीति की भाषा मे नरम दल वाले कहे जा सकते हैं, उसका समर्थन करने लगेंगे और धीरे-धीरे सारा देश उसके द्वारा स्थापित होने वाली सस्थाओ की ओर आकृष्ट हो जायगा। समझौते से सतुष्ट न होने वाले लोगो के विचारो की उग्रता पर निपटारे की न्यायप्रियता विजय प्राप्त कर सकती है। यदि इस समय देश का वायुमडल वाद-विवाद के धुँए से ढका हुआ है, तो उसके कारण यह न समझ लेना चाहिए कि देश मे समझदारी और देशभक्ति का अभाव ही हो गया है।

प्रान्तो की सीमाएँ

देश को राजनीतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिए सब से पहले तो यह बात जरूरी है कि प्रान्तो की सीमाओ को स्थायी रूप से स्वीकार कर लिया जाय। जब तक भारत मे देशी राज्यो का अस्तित्व है तब तक प्रान्तो का भाषा के आधार पर ठीक ढंग से पुनर्निर्माण सम्भव नही है। प्रान्तीय सीमाओ का फिर से निर्धारित होना वैसे भी वाछनीय नही है। इसका प्रश्न उठने पर छोटे-छोटे समुदायो मे भी अपनी भाषा नहीं बल्कि बोली के आधार पर अपना अलग प्रान्त चाहने की मनोवृत्ति उत्पन्न होने लगती है। प्रान्तो के पुनर्निर्माण के प्रश्न को उठाना बर्रों के छत्ते मे हाथ डालना जैसा है। जिन समुदायो के बीच थोडा ही सा अतर है और जो थोडा सा ही प्रयत्न करने पर आपस मे हेलमेल से रह सकते हैं, वे भी इस प्रश्न के उठने पर अपने पडोसियो से अलग होने की बात सोचने लगते हैं। इसलिए अच्छा यही होगा कि प्रान्तो की वर्तमान सीमाओ को स्वीकार करके उनके आधार पर सघ-सरकार की स्थापना का प्रयत्न किया जाय।

अधिकारो की घोषणा

इस छोटी सी पुस्तक मे भारत के भावी विधान की पूरी रूपरेखा पर विचार नही किया जा सकता, यहाँ उसकी कुछ ऐसी बातो का ही उल्लेख किया जा सकता है जिनका हिंदू-मुसलिम समस्या से सम्बन्ध है। एक महत्वपूर्ण प्रश्न तो सरक्षणो का है। राजनीतिक बुद्धिमत्ता इसी मे है कि प्रत्येक समुदाय को, जहाँ तक सम्भव हो, इस विषय मे निश्चिंत कर दिया जाय कि उसके नागरिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार नई व्यवस्था मे पूरी तरह सुरक्षित रहेगे। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानो मे इस बात की स्पष्ट घोषणा होनी चाहिए कि सब लोगो को अपना धर्म मानने और उस पर चलने की, अपनी भाषा और सस्कृति की रक्षा तथा उन्नति करने की, शिक्षा प्राप्त करने की, शाति और सुव्यवस्था की मर्यादा के भीतर रह कर सभाएँ करने, सस्थाएँ बनाने और अपनी गुप्त बातो को गुप्त रखने की स्वतत्रता रहेगी, कानून के सामने सब बराबर समझे जायँगे और सब के नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार बराबरी के होगे। जो साम्प्रदायिक समझौते हो उन्हे भी विधान का अंग बना दिया जाय ताकि मत्रिमण्डल अथवा कौसिलो के बहुमत वाले दल उनमे हस्तक्षेप न कर सके।

न्यायालयो के अधिकार

अदालतो को यह अधिकार होना चाहिए कि अगर वे सरकार के किसी काम या कौसिल से पास होने वाले किसी क़ानून को विधान के प्रतिकूल या अधिकारो की घोषणा पर आघात करने वाला समझे तो उसे नाजायज़ या ग़ैर-क़ानूनी करार दे सके। भारत के भावी विधान मे इस बात की स्पष्ट व्यवस्था होनी चाहिए कि अदालते सरकार व कौसिलो के निर्णयो के वैधानिक या क़ानूनी पहलुओ पर फैसला दे सकती हैं। इसके लिए इस बात की आवश्यकता होगी कि अधिकारों की घोषणा

तथा साम्प्रदायिक निपटारे की भाषा कानूनी कागजात की भाषा की तरह बिलकुल स्पष्ट हो, ताकि अदालतो को उनका मतलब लगाने मे कठिनाई न हो। यह तो स्पष्ट ही है कि अदालते न तो सरकार के मातहत हो और न कौसिलो के।

विधान मे सशोधन

केन्द्रीय विधान के सम्बन्ध मे यह नियम होना चाहिए कि उसमे कोई सशोधन करने के लिए केवल बहुमत से ही निर्णय न हो सकेगा बल्कि असेम्बली और कौसिल दोनो मे दो-तिहाई मेम्बरो का समर्थन आवश्यक होगा। यह इसलिए आवश्यक है कि मुसलमानों तथा अन्य अल्पसख्यक समुदायो की अनुमति के बिना विधान मे सशोधन न हो सके। इसके सिवाय अगर अधिकारो की घोषणा अथवा साम्प्रदायिक निपटारे मे किसी प्रकार के सशोधन की आवश्यकता उपस्थित हो, तो उसके लिए मुसलमानो तथा अन्य अल्प-सख्यक समुदायो के दो-तिहाई मेम्बरो की अनुमति भी लाजमी होनी चाहिए। यूरोप की हाल की घटनाओ से यह दिखाई पड गया है कि आतरिक क्रान्तियो तथा अतर्राष्ट्रीय झगडो के कारण विधान मे कही गई बाते भी बेकार हो जाती हैं, लेकिन क्रान्ति या लड़ाई कोई नित्य की घटना नही है और इसलिए मोटे तौर पर यह बात ठीक है कि विधान मे अधिकारों के सरक्षण की व्यवस्था हो जाने से साम्प्रदायिक सद्भावना और राजनीतिक उदारता की वृद्धि होती है और लोगो को वैधानिक ढगो से (यानी कानून के अदर रह कर) काम करने की आदत पडने लगती है।

सघ-सरकार के अधिकार

एक और महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कौन-कौन अधिकार प्रान्तीय सरकारो के हाथो मे रहेगे और कौन-कौन केन्द्रीय अथवा सघ सरकार

के हाथ मे। यह तो स्पष्ट ही है कि देश की रक्षा का भार केन्द्रीय सरकार पर रहेगा और इसलिए सेना, जल-सेना और आकाश-सेना उस के नियत्रण मे रहेगी। आधुनिक समय मे युद्ध-नीति ने जैसा व्यापक रूप धारण कर लिया है उसे देखते हुए यह भी आवश्यक है कि विदेशी सरकारो से सम्बन्ध और सम्पर्क रखना, अपने देश के लोगो को विदेश मे बसने के लिए जाने देना या न जाने देना, विदेशियो को भारत मे बसने की अनुमति देना या न देना, आदि बाते भी उसी के नियत्रण मे रहनी चाहिएँ। उसके इन अधिकारो के परिणाम-स्वरूप रेल, तार, सिक्का, विनिमय की दर आदि बाते भी उसी के अधिकार मे रहना आवश्यक होगा। अपने इन विभागो सम्बन्धी कर्तव्यो का सुचारु रूप से पालन कर सकने के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उसे देश भर की आर्थिक उन्नति के लिए आयोजनाएँ तैयार करने और उन्हे कार्यान्वित करने का अधिकार हो। इसका मतलब यह हुआ कि वेको और बीमा कम्पनियो पर उसी का नियत्रण रहेगा और विदेशी माल पर कम या अधिक चुगी लगाने का अधिकार भी उसी को रहेगा। इसी सिद्धान्त पर मज़दूरो, किसानो आदि के सम्बन्ध मे या किसी सम्पत्ति अथवा अधिकार को व्यक्तियो के हाथ से लेकर राष्ट्र के हाथ मे दे देने के लिए क़ानून बनाने की शक्ति उसी को होनी चाहिए। इसके सिवाय, इसी सिद्धान्त पर, देश भर में शाति तथा सुव्यवस्था की रक्षा के लिए भी अतिम उत्तरदायित्व उसी का होना चाहिए। केन्द्रीय सरकार के ऋणो, कर्मचारियो और उनकी पेशनो का नियंत्रण भी उसी के हाथ मे रहेगा, यह तो स्पष्ट ही है। विवाह, तलाक़ और दीवानी व फौजदारी क़ानून की कुछ बातो की बाबत क़ानून बनाने का अधिकार अगर केन्द्रीय सरकार को ही रहे तो अच्छा है, नही तो प्रान्तीय क़ानूनो की विभिन्नता के कारण बड़ी गड़बड़ी रहेगी। सर्वे, मर्दुमशुमारी, कला-कारीगरी की शिक्षा, प्राचीन इतिहास की खोज, ऐतिहासिक वस्तुओ की रक्षा,

पेटेंट, कापीराइट, आदि कुछ बाते ऐसी हैं जिनकी बाबत कानून पास करने का अधिकार तो केन्द्रीय सरकार को ही होना चाहिए लेकिन उन कानूनो के अनुसार कार्य करने मे प्रान्तीय सरकारों को स्वाधीनता होनी चाहिए। देश की रक्षा करने, उसके अदर शाति कायम रखने और उसके प्रान्तो के बीच सहयोग की व्यवस्था करने की ज़िम्मेदारी सघ-सरकार की होगी, इसलिए ऊपर जिन अधिकारो का ज़िक्र किया गया है उनके बिना तो उसका काम चल ही नही सकता और उनमे कमी कर सकना मुमकिन नही है। बाकी सब अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दिये जा सकते हैं। इस तरह पुलिस, जेल, शिक्षा, अस्पताल, दवाखाने, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, सडके, नहरे, आबपाशी, जमीन, जगलात, कब्रिस्तान, शराब और दूसरे नशे, गरीब, बेकार, दान, सिनेमा, थियेटर, सर्कस, तीर्थयात्रा, आँकडो का सग्रह, आदि बाते प्रान्तीय सरकारो के नियत्रण मे रहेगी। दीवानी और फौजदारी के कुछ मामलो मे और म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोडो की बाबत कानून बनाने और उनके अनुसार कार्य करने का अधिकार भी उन्ही को रहेगा। प्रान्तीय सरकारो की अधीनता मे काम करने वाले कर्मचारियों से सम्बन्ध रखने वाली बाते तो उनके नियत्रण मे रहेगी ही। शेष अधिकारो के प्रश्न पर बहुत सा बहस-मुबाहिसा हुआ है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो के अधिकार के अतर्गत आने वाले विषयो की सूचियाँ बना लेने के बाद भी कुछ न कुछ बाते छूट जाती हैं और इन्ही को शेष अधिकार कहते हैं। इन्हे केन्द्रीय सरकार के अधिकार मे रखने के पक्ष मे प्रबल तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं, परतु उन तर्को की अपेक्षा इस बात मे अधिक सार है कि उन्हे प्रान्तीय सरकारो के हाथ मे दे देने से सिंध, सीमा प्रान्त, पजाब, बगाल और आसाम के मुसलमानो की विधान सम्बन्धी चिंता कम हो जायगी।

विज्ञान और शासन

चालीस करोड़ मनुष्यो के लिए लोकतत्र शासन की स्थापना एक नई बात होगी। ससार के इतिहास मे अभी तक इस शासन-प्रणाली की इतनी बड़ी मात्रा में परीक्षा नही हुई है। एक ओर यह बात बड़ी उत्साहप्रद है तो दूसरी ओर इसमे कठिनाइयाँ और ख़तरे भी हैं। इसलिए इसके साथ आवश्यक मात्रा मे सरक्षणो का होना भी ज़रूरी है। जिस प्रकार के सरक्षणो की बात हमारे विधान के सम्बन्ध मे सोची गई है उनके फल-स्वरूप क़ानूनो के पास होने मे देर लग सकती है, शासन-कार्य के सुचारु रूप से चलने मे बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं, कुछ बड़े अधिकारियो को मत्रिमडलो के फैसलो मे हस्तक्षेप कर सकने के लिए विशेष अधिकार दिये जा सकते है। लेकिन इन बातो से ही काम नही चलेगा। सरक्षणो से हमारा अभिप्राय इस प्रकार की व्यवस्था से है कि ज्ञान और विज्ञान का शासन से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो जाय। किसी भी देश मे जनता का स्वराज्य तभी कामयाब हो सकता है जब उसे जनता की सद्भावना का भी और उसके बुद्धिबल का भी सहयोग प्राप्त हो।

लोकमत का उचित क्षेत्र

लोकतत्र के सम्बन्ध मे प्रायः यह कहा जाता है कि लोकमत के अनुसार चलने वाला शासन ही लोकतंत्र है। लेकिन किसी भी सरकार का, ख़ास कर सभी दिशाओ मे जनता की हालत सुधारने का ध्येय रखने वाली सरकार का, काम केवल मत या राय से नही चल सकता। क्या होना चाहिए, इस बात का निर्णय करना तो लोकमत का ही काम हो सकता है, गो इस तरह की बातो का फ़ैसला करने मे भी लोकमत को समाजशास्त्र के जानकारो के ज्ञान से बड़ी सहायता मिल सकती है।

क्या होना चाहिए, इस बात का निर्णय हो जाने पर यह सवाल उठता है कि उसे करने का सब से अच्छा तरीका क्या होगा। इस सवाल को हल करने मे लोकमत को विशेष सफलता नहीं हो सकती। यह तो वास्तव मे उन लोगों का क्षेत्र है जो अपने ज्ञान या अनुभव के कारण उस कार्य के विशेषज्ञ हैं। यहाँ कोरी राय का जानकारी के मुकाबले मे अधिक महत्व नहीं हो सकता। क्या होना चाहिए, इस बात का निर्णय हो जाने के बाद लोकमत का केवल इतना कार्य और रह जाता है कि वह इस बात का पता रक्खे कि काम ठीक से हो रहा है या नही। बस, अगर लोकमत इससे आगे बढता है और राजनीतिक क्षेत्र मे अपने को सर्वशक्तिमान बनाने का प्रयत्न करता है, तो यह उसकी भूल है। जो सस्था हर एक बात मे दख़ल देने की कोशिश करती है उसके अन्दर चालाकी और मक्कारी की गुजाइश हो जाती है और वह थोडे से होशियार लोगो या उनके गुटो के हाथ की कठपुतली बन जाती है।

लोकमत और लोक-शक्ति

लोकतत्र मे लोकमत का इतना अधिक महत्व है कि उसके सम्बन्ध मे कुछ कहने की आवश्यकता नही है। परतु साथ ही यह बात भी उतनी ही महत्वपूर्ण है कि जनता अपने कर्तव्य का भार सँभालने के योग्य हो। जनता की शक्ति है तो बड़ी भारी, लेकिन वह बिखरी हुई है, अपने को ठीक से जान नहीं पाई है, अपना रूप स्थिर नही कर पाई है। उसका अपने को पहचान लेना और सुसंगठित हो जाना ही लोकतत्र के लिए अभीष्ट है। तभी उसका सुचारु रूप से सचालन हो सकता है। अगर लोकमत का विकास समझदारी के साथ ठीक रास्ते पर न हो, तो जनता की शक्ति अपने भीतर ही आतरिक सघर्ष उत्पन्न करके अपना नाश कर सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि जनता

मे शिक्षा का प्रचार हो और उसे आर्थिक तथा राजनीतिक बातों की जानकारी हासिल हो। दूसरी बात यह है कि लोगों के विचार प्रायः अपने समुदाय के दूसरे लोगो के विचारो जैसे ही होते हैं। इसलिए अगर समाज ऐसे समुदायो मे विभाजित है जिनका आधार जन्मजात छुटाई-बड़ाई या जाति-भेद या धर्म-भेद है, तो उसके लोगो के विचार सच्चे अर्थ मे लोकमत का रूप धारण नही कर सकते। राजनीतिक नेताओ को जनता के विचारो और भावनाओ का ध्यान रखना पड़ता है और जहाँ तक मुमकिन हो उनके विरुद्ध न चलने की भी कोशिश करनी पड़ती है, विरुद्ध चलने पर सफलता भी अधिक नहीं मिलती। इसलिए जहाँ जनता में अशिक्षा और नाजानकारी होगी और उसके विचारो मे भेदभाव की भावनाएँ प्रबल होगी, वहाँ अपने-अपने मत का प्रचार करने वाले प्रोपेगेंडा के उचित और अनुचित सभी प्रकार के साधनो से काम लेने लगेंगे और जनता का नेतृत्व सकीर्ण दृष्टिकोण वाले लोगो के हाथ मे चले जाने की आशंका रहेगी। आदर्श लोकमत वह है जिसमे भेदभाव की छाया न हो, जो सकीर्णता और स्वार्थभाव से मुक्त हो, जिसके दृष्टिकोण मे उदारता तथा व्यापकता हो, और जो लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो। जिस समाज मे सामाजिक न्याय की जितनी अधिक स्थापना हो चुकी है उसका लोकमत उतना ही इस आदर्श के निकट होगा। न्याय क्या है? इसकी एक परिभाषा यह है—समाज के भीतर व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो की सतोषजनक व्यवस्था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास का अवसर प्राप्त हो सके। समाज की भलाई के लिए ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है जिसमे व्यक्ति अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नशील हो सके और उसके इस प्रयत्न से दूसरे व्यक्तियो के हितो की हानि न हो। सब लोगो को शिक्षा और उन्नति कर सकने के लिए समान अवसर प्राप्त हो, देश मे सामाजिक न्याय हो, सच्चा लोकमत हो, लोकतंत्र हो और वैज्ञानिक

शासन हो—ये सब बाते राजनीतिक उन्नति का अग हैं, यद्यपि अभी किसी देश मे वह पूर्णता को नही पहुँची है। इन सब बातो के हो सकने के लिए यह आवश्यक है कि सार्वजनिक जीवन मे उत्तेजना के बजाय विवेक का साम्राज्य हो, लोग सार्वजनिक मामलो की बाबत न तो उदासीन हो और न इतने कट्टर हो कि सब बातो को अपने मन के मुताबिक ही कराने का हठ करे। साधारण जनता मे जितना अधिक शिक्षा का प्रचार होगा और समाज का आधार जितना अधिक न्याय-पूर्ण होगा, लोकशक्ति भी उतनी ही अधिक विवेकशील तथा सयत होगी। वह अपनी क्षमता तथा अक्षमता को समझेगी और ज्ञान-विज्ञान का आश्रय लेगी। यह ज़रूरी नही है कि हर एक आदमी विज्ञानवेत्ता अथवा विशेषज्ञ हो, परन्तु उसे इतना पता होना चाहिए कि वैज्ञानिक ढग किसे कहते हैं और उसकी उपयोगिता मे विश्वास होना चाहिए। तब राजनीति जुए का खेल न रह जायगी, साधारण व्यक्ति भी और विशेषज्ञ भी सार्वजनिक जीवन के खिलौने न रह जायँगे। साधारण व्यक्ति न मोची होता है और न दर्ज़ी, लेकिन अपने लिए जूते ख़रीदते समय या कपड़े बनवाते समय वह अपनी बुद्धि से मोची या दर्ज़ी के काम के सतोषजनक अथवा असतोषजनक होने का निर्णय कर लेता है। इसी प्रकार साधारण नागरिक के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि बिना राजनीति का विशेषज्ञ हुए वह राजनीतिज्ञो की बातो के सम्बन्ध मे अपना मत निश्चित कर सके। आधुनिक युग मे किसी भी शासन-प्रणाली के सुचारु रूप से चल सकने के लिए यह आवश्यक है कि विशेषज्ञ तथा नागरिक के बीच सहयोग हो—विशेषज्ञ कार्य करे और नागरिक उसे जाँचे।

धारा सभा का कार्य

लोकतत्र मे जनता के प्रतिनिधियो की सभा का, जिसे पार्लीमेंट या असेम्बली या कौंसिल या धारा सभा या व्यवस्थापिका सभा आदि नामो

से पुकारा जाता है, बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। परतु जिस प्रकार यह आवश्यक है कि लोकमत सभी बातो में दख़ल न दे, उसी तरह यह भी ज़रूरी है कि धारा सभा भी अपने कार्यक्षेत्र की सीमा निश्चित कर ले। पुराने समय मे सभी देशो मे शासन-शक्ति या तो एक स्वेच्छाचारी राजा के हाथ मे होती थी या सरदारो के वर्ग के हाथ मे, फिर धीरे-धीरे वह जनता के प्रतिनिधियो के हाथो मे आई। इस परिवर्तन-काल मे धारा सभाओ ने छोटे-बड़े सभी प्रश्नो के सम्बन्ध मे सरकार की नीति निर्धारित करने और शासन के सभी विभागो की पूरी-पूरी देख-भाल रखने की कोशिश की है। उन्होने बहुत सा ऐसा काम किया है जो वास्तव मे मत्रिमंडलो का था। शायद उस समय के अधिकारियो की प्रवृत्ति और लोकमत के रुख़ को देखते हुए उनके सामने कोई दूसरा मार्ग ही नही था। परतु हाल मे कई देशो मे पार्लीमेन्टरी शासन-प्रणाली की असफलता ने यह सिद्ध कर दिया है कि धारा सभाओ ने अपने ऊपर बहुत अधिक काम ले लिया था और उसे वे बड़ी धीमी चाल से कर रही थी। उन्होने अपनी क्षमता का अंदाज़ा लगाने मे ग़लती की थी। वे यह महसूस नही कर पाई थी कि उन्हे शासन की नीति ही निर्धारित करनी चाहिए और शासन के कार्य मे अनुभवी शासको को कुछ अधिक स्वतंत्रता देनी चाहिए।

यूरोप मे पार्लीमेन्टरी शासन प्रणाली का उदय मध्य वर्ग की जाग्रति का परिणाम था और मध्य वर्ग के शासन के रूप मे वह बहुत समय तक सुचारु रूप से चलती रही। परतु जब सभी वर्गों मे जाग्रति फैल गई और सारी जनता का शासन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ गया, तो अब तक जिन ढगो से काम चल गया था उनमे हेरफेर की ज़रूरत पैदा हो गई। लेकिन पुरानी आदतो को छोड़ना आसान नही होता और यह हेरफेर की बात टलती चली गई। नतीजा यह हुआ कि

पार्लमेन्टरी शासन-प्रणाली अपने ऊपर पडने वाले नये बोझ को सॅभालने मे दिक्कत महसूस करने लगी और रूस, इटली, जर्मनी, स्पेन, यूगोस्लेविया, पुर्तगाल, आदि जिन देशो मे उसकी जड मजबूती से नहीं जम पाई थी वहाँ तो वह बेकार हो गई। जिन देशों ने अभी तानाशाही की प्रणाली को ग्रहण नही कर लिया ह उनके राजनीतिज्ञो के सामने यह समस्या उपस्थित हो गई है कि पार्लामेन्टरी प्रणाली मे इस प्रकार का सुधार कैसे किया जाय कि सब बातो पर ठीक से विचार भी हो सके और उनका निर्णय होने मे विलम्ब भी न हो। सभी राष्ट्रो को अपनी-अपनी परिस्थितियो के प्रकाश मे और परिवर्तन-काल की कठिनाइयों को मद्दे-नज़र रखते हुए इस समस्या को हल करना पडेगा। फिर भी दो बाते ऐसी मालूम देती हैं जो सभी जगह लागू होगी। पहली बात तो यह है कि शासन-व्यवस्था ठीक तरह से और बिना अनावश्यक विलम्ब के अपना कार्य करती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमे रुकावटो और बाधाओ का जाल न बिछाया जाय। दूसरी बात यह है कि धारा सभाऍ केवल जन-मत की प्रतिनिधि ही न हों बल्कि स्वय भी सब बातो पर विचार करे, अपना दृष्टिकोण उदार रक्खे और अपने कार्य-क्षेत्र को ध्येय तथा नीति निर्धारित करने तक ही सीमित रक्खे, शासन के प्रत्येक कार्य मे हस्तक्षेप करने की कोशिश न करे। एक ओर उन्हे दूसरो के विचारों पर ध्यान देने और अगर वे उचित जान पडे तो उन्हे ग्रहण करने के लिए तैयार रहना चाहिए, दूसरी ओर उनके साथ ऐसी सस्थाऍ होनी चाहिऍ जो कार्य-योजनाऍ तैयार करके उनके सामने पेश करती रहें। ये सस्थाऍ केवल परामर्श दे सकेंगी, उनके परामर्शो के सम्बन्ध मे निर्णय करने का अधिकार धारा सभाओ को ही रहेगा। इस प्रकार उनके अधिकार तथा उत्तरदायित्व मे कोई कमी आये बिना उनके लिए समझदारी और शीघ्रता से निर्णय कर सकना सम्भव हो जायगा। अब भी कानून बनाने वालो को भी और शासको को

भी नई-नई बाते सुझाते रहने वाले लोग प्रायः उनसे बाहर के ही होते हैं। अच्छा यह होगा कि इस तरह के लोगो को भी राष्ट्र की उन्नति मे सहयोग दे सकने के लिए सुविधा कर दी जाय। पार्लमेन्टरी प्रणाली मे धारा सभा के अतर्गत प्रायः दो सभाएँ होती हैं, जिनमे से पहली के लिए हमारे देश के शासन - विधान मे असेम्बली और दूसरी के लिए कौसिल नाम पड़ गया है। ऊपर हमने जो बात कही है उसे अमली शक्ल देने के लिए यह किया जा सकता है कि कौसिल मे विभिन्न विद्याओ, कला-कारीगरियो और व्यवसायो के प्रतिनिधि रहे। इस तरह एक-एक काम मे लगे हुए लोगो की नगर-नगर और ज़िले-ज़िले मे समितियाँ बन कर प्रान्तीय और भारतीय समितियाँ भी बन जायँगी। ये समितियाँ अपनी विद्या अथवा कारीगरी के गौरव की रक्षा करने के साथ ही अपने सदस्यो के हिताहित की बाबत भी सचेष्ट रहेगी और साथ ही देश की आर्थिक उन्नति के लिए आयोजनाएँ तैयार कराने और उन्हे स्वीकार कराने मे भी सहायक हो सकेगी। धारा सभा के साथ आर्थिक प्रश्नो पर परामर्श देने के लिए कोई कमेटी हो तो उसमे इन समितियो के नेताओ, मन्त्रियो और विशेषज्ञो के बीच विचार-विनिमय हो सकता है। इस प्रस्ताव के विरोध मे यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की शासन-व्यवस्था बड़ी जटिल और पेचीदा मालूम देती है। परन्तु आधुनिक सभ्यता भी तो बड़ी जटिल है, और शासन-व्यवस्था को भी उसके अनुकूल बनना पड़ेगा। जीवन की जटिलता के बीच सीधी सादी शासन-व्यवस्था की कल्पना हानिकारक ही हो सकती है। इसके सिवाय यह बात याद रखनी चाहिए कि इस प्रकार की कमेटियो का काम सिर्फ सलाह मशविरा देना ही होगा, असली शक्ति और ज़िम्मेदारी तो धारा सभा और मंत्रिमडल की ही रहेगी।

मन्त्रिमडल

धारा सभाओ की भाँति ही मन्त्रिमडलो के स्वरूप मे भी परिवर्तन की आवश्यकता है। उनके साथ विशेषज्ञो के बोर्डों का रहना जरूरी है जिनके सदस्य केवल सिविल सर्वेन्ट (सरकारी अफसर) ही नही बल्कि वास्तव मे अपने विषयों के जानकार और अनुभवी विशेषज्ञ हो। इस तरह के बोर्डों का न होना अब तक की लोकतत्र शासन-प्रणाली मे एक भारी कमी थी और पिछले पच्चीस वर्षो मे उसे जिस असफलता का सामना करना पडा है, उसकी एक खास वजह भी उसकी यही कमी थी। पुराने समय मे लोकतत्र शासन पर जनता की सर्वाङ्गीण उन्नति का भार नही था, उसका ध्येय केवल इतना था कि नरेशों और सामतो की स्वेच्छाचारिता का अत हो जाय। उस समय की आवश्यकताओ को देखते हुए केवल राजनीतिज्ञो के मन्त्रिमडल काफी थे। लेकिन अब यह महसूस किया जाने लगा है कि ध्येय तथा नीति का निर्णय हो जाने पर उसके अनुसार आवश्यक कार्यवाही की व्यवस्था करना विशेषज्ञों का कार्य होना चाहिए और राजनीतिज्ञो के मन्त्रिमडल का कार्य बस यही होना चाहिए कि वह इस व्यवस्था की निगरानी और विभिन्न विभागो के विशेषज्ञो के कार्यो के बीच सामजस्य और सहयोग का प्रबन्ध करता रहे। आधुनिक युग मे मन्त्रिमडल की सहायता के लिए ऐसे बोर्डों और कमीशनो की आवश्यकता है जो निर्धारित नीति के अदर रहते हुए अपने अपने विभाग के कार्यकलाप के सम्बन्ध मे स्वाधीन होगे। कृषि, शिक्षा, वैदेशिक व्यापार, रेल, तार, बिजली, औद्योगिक उन्नति, सरकारी कर्मचारियो की नियुक्ति, आदि, आदि विषयो के लिए अलग-अलग बोर्ड या कमीशन होने चाहिएँ। इनके सदस्य मन्त्रिमडल के द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए, उदाहरणत: पाँच-पाँच या सात-सात वर्ष के लिए नियुक्त होगे। वे अपने कामो की बाबत

धारा सभा के सामने जवाबदेह न होगे। अगर मन्त्रिमडल किसी कारण से इस्तीफा देने का निश्चय करे तो उन्हे भी साथ में त्यागपत्र न देना होगा। अगर किसी बोर्ड या कमीशन के किसी सदस्य को उसके पद से हटाना अभीष्ट हो तो इसके लिए यह आवश्यक होगा कि धारा सभा गवर्नर या गवर्नर-जनरल से इस आशय की सिफारिश करे और उस पर सभा के कम से कम दो-तिहाई सदस्यो के दस्तख़त हो। मंत्रिमंडल इन बोर्डों और कमीशनो के काम की निगरानी करता रहेगा लेकिन तफ़सील की बातो मे दख़ल देने की कोशिश न करेगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन बोर्डों और कमीशनो का काम ध्येय अथवा नीति का निश्चय करना नही बल्कि उसके निश्चित हो जाने पर उसे कार्य रूप मे परिणत करना होगा। डाक्टरी और रेल-तार के विभागो के सम्बन्ध मे कई देशो मे इस सिद्धान्त पर अमल किया जाने लगा है। ज़रूरत इस बात की है कि इसे सभी विभागो के सम्बन्ध मे मान लिया जाय। इसके सिवाय एक नया महकमा योग्यता विभाग के नाम से क़ायम किया जा सकता है। इसका काम इस बात की जाँच करते रहना होगा कि विभिन्न विभागो के कर्मचारी उन्हे कितनी योग्यतापूर्वक चला रहे हैं और उनके ढंगो मे कहाँ-कहाँ और किस-किस सुधार की गुंजाइश है। अलग-अलग महकमो के लिए सलाहकार समितियाँ भी बनाई जा सकती हैं जो उनके कामो की संयत ढग से आलोचना भी करती रहेगी और उन्हे नई-नई बाते भी सुझाती रहेगी। उनकी बदौलत शासन और लोकमत के बीच स्थायी सम्बन्ध जुड़ जायगा। बोर्डों और कमीशनो की सहायता से शासन करने वाले मन्त्रिमडल की बाबत यह आशा की जा सकती है कि वह विवेक के मार्ग पर चलेगा। समाज की सारी व्यवस्था में ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्याप्त हो जाने की आवश्यकता है और ऊपर जो प्रस्ताव किये गये हैं उनसे इस बात मे सहायता मिलेगी।

शासन और राजनीति का पृथक्करण

यह तो स्पष्ट है कि शासन की जटिल और वैज्ञानिक व्यवस्था का लोकमत नियत्रण नही कर सकता। लेकिन साथ ही इसका अर्थ यह भी नही है कि एक निरकुश और स्वेच्छाचारी नौकरशाही कायम हो जाय। मतलब केवल यह है कि पहले समाजशास्त्र के जानकार समाज की परिस्थिति पर निष्पक्षतापूर्वक विचार करके आर्थिक उन्नति के कार्यक्रम तैयार करेगे और फिर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाले अनुभवी विशेपज्ञ उन्हे अमली शक्ल देगे। उन्नतिशील देशों के अनुभव से यह बात प्रकट हो गई है कि शासन विभाग के अधिकारियो को वास्तव मे अपने कार्य-क्षेत्र मे उसी तरह की जानकारी और मनोवृत्ति की आवश्यकता है जैसी डाक्टरो, इजीनिअरो, आदि मे अपने काम की बाबत होती है। आमद-रफ्त और व्यापार के साधनो की उन्नति के फल-स्वरूप आधुनिक युग के दृष्टिकोण मे बड़ा विस्तार हो गया है, इसलिए अब अधिकारियों के लिए भी आवश्यक हो गया है कि वे उन्नति और सुधार के लिए बड़ी-बड़ी आयोजनाएँ बना सके और उन पर अमल करने के लिए बड़े-बडे कार्यक्रम तैयार कर सके। परन्तु इस प्रकार की शासन-व्यवस्था तभी चल सकती है जब कि साधारण जनता मे इतनी शिक्षा और जाग्रति फैल चुकी हो कि वह उत्तेजना और भावना की अपेक्षा विवेक को, और अनियमित ढग से आगे बढने की अपेक्षा उन्नति के वैज्ञानिक ढग को अधिक महत्व दे सके। भारत मे जो परिस्थिति है उसे देखते हुए यह सब से अधिक आवश्यक बात है कि शासन और दलबदी वाली राजनीति के बीच यथासम्भव कम से कम सम्बन्ध रहे। इससे धारा सभा ऐसे कामो से मुक्ति पा जायगी जो वास्तव मे उसके कार्य-क्षेत्र से बाहर हैं और जिन्हे वह ख़ूबसूरती के साथ नही कर सकती। इससे साम्प्रदायिक कटुता का बढना भी रुकेगा क्योकि देश के शासन मे एक

दल विशेष का प्रभुत्व हो जाने से विभिन्न सम्प्रदायो के बीच मनोमालिन्य की वृद्धि होगी। अगर भारत को पार्लामेन्टरी प्रणाली की परीक्षा करनी है तो उसे यूरोप और अमरीका के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए और उन ग़लतियों से बचना चाहिए जो कि वहाँ पिछले सौ बरसो मे हुई हैं। भारत को इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि इतने देशो मे पार्लामेन्टरी प्रणाली क्यो असफल हुई और शुरू ही से अपने यहाँ ऐसी राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी व्यवस्था करनी चाहिए जो मौजूदा ज़माने की ज़रूरतो को पूरा कर सकती हो।

सयुक्त मन्त्रिमंडल

ऊपर जिन बातो का उल्लेख किया जा चुका है, उन्हे ध्यान मे रखते हुए अब हम कुछ ऐसे प्रस्तावों पर विचार करेंगे जिनसे विभिन्न सम्प्रदायो के हितो और सम्बन्धो के बीच सामजस्य स्थापित होने मे सहायता मिल सकती है। इनमें से पहली बात तो यह है कि मंत्रिमडल एक दल के होने के बजाय एक से अधिक राजनीतिक दलो के सहयोग से बनने चाहिएँ। सयुक्त मंत्रिमंडलों मे कुछ त्रुटियाँ भी हो सकती हैं, परन्तु भारत की वर्तमान परिस्थिति मे वे अनिवार्य हैं। लोकतंत्र का अर्थ है बहुमत का शासन, और उसके लिए देश का सार्वजनिक जीवन ऐसा होना चाहिए कि जिस दल के साथ आज बहुमत नही है वह कल उसे अपने पक्ष मे कर लेने की कोशिश कर सके। परन्तु यदि देश मे एक से अधिक धर्मों के अनुयायी रहते हैं और वे इस साम्प्रदायिक भेद को राजनीति से अलग नही रख सकते, तो फिर जिस दल का बहुमत है उसका बहुमत ही रहेगा और जो छोटा है वह छोटा ही रहेगा। ऐसी स्थिति में संयुक्त मन्त्रिमण्डल राजनीतिक ही नही, नैतिक दृष्टि से भी आवश्यक हो जाता है। आगे चल कर यह सम्भव हो जायगा कि

सम्प्रदायो के नही. राजनीतिक और आर्थिक विचारो के आधार पर विभिन्न दलो का सगठन होने लगे। तब सभी दलो मे हिंदू और मुसलमान कार्यकर्त्ता मिल कर काम करने लगेगे और तभी एक-एक दल के मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हो सकेगा। सम्राट की ओर से गवर्नर-जनरल और गवर्नरो के नाम जो आदेशपत्र निकलते हैं उनमे इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया जा सकता है कि सयुक्त मन्त्रिमडल बनाये जायँगे। अगर अल्प-सख्यक समुदायों को इस ढग से सतोप न हो तो ऐसी व्यवस्था हो सकती है कि मन्त्रिमडल का चुनाव असेम्बली के मेम्बरो के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के ढग से किया जाय और उसमे किस किस सम्प्रदाय के कितने-कितने प्रतिनिधि रहेंगे, यह बात पहले से तै हो जाय। परन्तु अनुभव से यह मालूम हो गया है कि यह ढग अच्छा नही है, इसके फल-स्वरूप राजनीतिक दलो के अंदर छोटे-छोटे गुट बनने लगते हैं और स्थायी या टिकाऊ मन्त्रिमण्डलो का बन सकना कठिन हो जाता है। आदेशपत्र वाला ढग इससे अच्छा है।

समझौता बोर्ड

इसके सिवाय एक ऐसे बोर्ड की स्थापना भी वाछनीय है जिसका नाम समझौता बोर्ड हो सकता है। इसका काम यह होगा कि जिन साम्प्रदायिक प्रश्नो पर धारा सभा या मन्त्रिमडल चाहे उन पर उसे परामर्श दे। इसके सिवाय यह बोर्ड स्वय भी विभिन्न प्रश्नों का अध्ययन करता रहेगा और अपनी ओर से भी जो उचित समझेगा, प्रस्ताव कर सकेगा। इसके कुछ सदस्यो का चुनाव तो धारा सभा के विभिन्न सम्प्रदायो के सदस्य अलग-अलग, अपनी-अपनी सख्या के अनुसार, कर सकते हैं, और ये निर्वाचित सदस्य कुछ अन्य लोगो को भी अपने बोर्ड का सदस्य बना सकते हैं। इस प्रकार का स्थायी बोर्ड राजनीतिक क्षेत्र मे एक सम्मानित और प्रभावशाली सस्था बन सकता है। इससे एक लाभ यह

होगा कि बहुत से साम्प्रदायिक प्रश्नो पर धारा सभा मे सार्वजनिक रूप से वाद विवाद होने के बजाय शान्तिपूर्वक विचार-विनिमय हो सकेगा और इस तरह समझौता हो सकने मे आसानी रहेगी।

मेलजोल कमेटियाँ

समझौता बोर्ड की सहायता के लिए नगरो मे और अगर ज़रूरत हो तो ज़िलों, तहसीलो और गाँवों मे मेलजोल कमेटियाँ क़ायम की जा सकती हैं। ये कमेटियाँ स्थायी होगी और इनके मेम्बरो को ज़िलो के हाकिम नामज़द करेंगे। व्यक्ति विशेष अब भी हिन्दू-मुसलमानो के बीच सद्भावना की वृद्धि के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, इस प्रकार की कमेटियो की स्थापना से इन प्रयत्नो की उपयोगिता कई गुनी बढ़ जायगी। ईसाई, पारसी, आदि दूसरे लोग जो हिन्दू-मुसलिम प्रश्नो पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकते हैं, इन कमेटियो के कामो मे बड़े सहायक हो सकते हैं।

साम्प्रदायिक निर्णय और पूना पैक्ट

केन्द्रीय और प्रान्तीय धारा सभाओ मे विभिन्न सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो का अनुपात स्थायी रूप से स्थिर हो जाना चाहिए। चार मोटी बाते ऐसी हैं जिन्हे पूरा किये बिना कोई भी साम्प्रदायिक समझौता न तो टिकाऊ हो सकता है और न सामाजिक हेलमेल बढ़ाने मे सहायक।

(१) समझौता ऐसा न होना चाहिए कि जो सम्प्रदाय अल्प संख्यक है उसके प्रतिनिधियो की सख्या उसके अनुपात से भी कम हो। (२) अल्प-सख्यक समुदायो के प्रतिनिधियो की सख्या उनके अनुपात से कुछ अधिक होनी चाहिए, और जिस समुदाय की सख्या जितनी कम हो उसके साथ इस मामले मे उतनी ही अधिक रिआयत होनी चाहिए।

(३) अल्प-सख्यकों को जो विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाय वह इतना अधिक न होना चाहिए कि उससे न्याय का गला घुटता हो और उसे मनवाने के लिए जोर-जबर्दस्ती करने की जरूरत पडे। (४) समझौता ऐसा न होना चाहिए कि बहुसख्यक समुदाय की स्थिति अल्प-सख्यक समुदाय जैसी हो जाय अथवा अल्पसख्यक समुदायो के प्रतिनिधि मिल कर उसके प्रतिनिधियो के बराबर हो जायँ।

इन बातों को ध्यान मे रखते हुए उचित यही मालूम देता है कि सन् १९३२ वाले प्रधान मत्री स्वर्गीय मि० मैकडानल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय तथा हरिजनो सम्बन्धी उसी वर्ष के पूना पैक्ट को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया जाय। परन्तु बगाल के प्रश्न पर फिर से विचार होना आवश्यक है। इस निर्णय तथा पैक्ट का परिणाम बगाल मे यह हुआ है कि उसकी धारा सभा मे मुसलमानो को तो बहुसख्यक सम्प्रदाय होते हुए भी बहुमत नही मिला है और अल्पसख्यक हिन्दुओं को अपने अनुपात से भी कम प्रतिनिधित्व मिला है। यूरोपिअन तथा अन्य अल्पसख्यक समुदायो को उनके अनुपात से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व दे कर उनकी स्थिति ऐसी कर दी गई है कि जिस प्रश्न पर भी हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच मतभेद हो उस पर इन्ही के मत के अनुसार निर्णय होगा।

केन्द्रीय धारा सभा मे प्रतिनिधित्व

केन्द्रीय धारा सभा के सदस्यो के साम्प्रदायिक अनुपात का प्रश्न देशी राज्यों के कारण और भी जटिल हो जाता है। परन्तु जहाँ तक ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियो का प्रश्न है वहाँ तक तो सन् १९३२ वाले ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के इस निर्णय को स्वीकार कर लेना ही ठीक होगा कि मुसलिम प्रतिनिधियों की सख्या ३० प्रतिशत रहेगी। यदि इस सख्या मे हेरफेर कराने की कोशिश की जायगी तो बडा घोर वादविवाद उठ खडा होगा और सार्वजनिक जीवन मे कटुता बढेगी। साथ ही यह कह

देना भी आवश्यक है कि केन्द्रीय या प्रान्तीय धारा सभाओ मे हिन्दुओ और मुसलमानो को बराबर-बराबर प्रतिनिधित्व देने की माँग भी बड़ी ख़तरनाक है। यदि कोई राजनीतिक निर्णय सरासर अन्यायपूर्ण हो तो उसे चालू करने के लिए ज़ोर-ज़बर्दस्ती की जरूरत पड़ती है, और ज़ोर-ज़बर्दस्ती से किसी समस्या का हल होना तो दूर रहा और नई समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। इस तरह के निर्णय का एक नतीजा यह होगा कि उसे मनवाने के लिए ब्रिटिश सरकार का नियत्रण आवश्यक हो जायगा और इस प्रकार स्वराज्य एक वेमानी चीज़ हो जायगा। यह भी हो सकता है कि ब्रिटिश सरकार आप ही एक अन्यायपूर्ण निर्णय को मनवाये जाने के झझट से ऊब उठे और उसे खतम हो जाने दे। दूसरी बात यह है कि मुसलमानो को ५० प्रतिशत प्रतिनिधित्व देना स्वीकार कर लेने का परिणाम यह होगा कि ईसाई, सिक्ख, पारसी और शायद हरिजन भी अपनी सख्या के अनुपात से कही अधिक प्रतिनिधित्व की माँग पेश करने लगेगे और सतोषजनक समझौता हो सकना असम्भव हो जायगा। तीसरी बात यह है कि केन्द्रीय धारा सभा तथा मत्रिमंडल मे ५० प्रतिशत हिस्सा पा जाने पर मुसलमानो को सदा आलोचना और बदगुमानी का शिकार बनना पड़ेगा। प्रत्येक काल मे और प्रत्येक देश मे सरकार की आलोचना होती है। उससे जितनी आशाएँ की जाती हैं उन्हे वह कदापि पूरा नही कर सकती और बहुत से व्यक्तियो तथा समुदायो को उसे निराश करना पड़ता है। अगर सरकार मे मुसलमानो का वाजिबी से ज़्यादा हिस्सा होगा तो उन्हे शिकायत और नाराज़ी का भी वाजिबी से ज़्यादा हिस्सा सहन करना ही पड़ेगा। इसका एक नतीजा यह हो सकता है कि मुसलमान ख़ास तौर पर सरकार के समर्थक बन जायँ और दूसरे लोग उसके आलोचक। वजाय इसके अगर सभी सम्प्रदायो के लोगो का शासन मे वाजिबी हिस्सा रहेगा तो सरकार की शिकायत या तारीफ़ मे भी किसीका खास हिस्सा न रहेगा और कोई नई साम्प्रदायिक कठिनाई पैदा न होगी।

सयुक्त निर्वाचन

अब यह प्रश्न आता है कि धारा सभाओं के सदस्यो का निर्वाचन किस प्रकार हो। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली का तीखा अनुभव यह बताता है कि जितनी जल्द सम्भव हो उसका अत हो कर सयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली जारी हो जानी चाहिए। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो की सख्या निश्चित रहेगी, परन्तु उनका चुनाव सब सम्प्रदायों के वोटर मिल कर करेगे। होना तो यही चाहिए, लेकिन जो बात पहले से चली आ रही है उसे फौरन मिटाया तो नही जा सकता। जब तक मुसलमान सयुक्त निर्वाचन को स्वीकार नही करते तब तक उसमे कुछ और शर्ते जोडनी होगी। उदाहरणतः एक समय स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली और कुछ अन्य सज्जनो ने यह प्रस्ताव किया था कि धारा सभाओ के मेम्बरों का चुनाव हिंदू और मुसलमान वोटर मिल कर करे लेकिन जिस हिंदू उम्मीदवार को मुसलमानों के या जिस मुसलिम उम्मीदवार को हिंदुओ के २० या २५ प्रतिशत वोट भी न मिले हो वह अपने सहधर्मियों के बहुत अधिक वोट मिलने पर भी चुनाव मे हारा हुआ समझा जायगा। इससे मिलती-जुलती व्यवस्था हो जाने से यह लाभ होगा कि जो भी उम्मीदवार निर्वाचन मे सफल होगे उन्हे दोनों ही सम्प्रदायो के हितो का ध्यान रखना पड़ेगा, वे किसी एक सम्प्रदाय के लोगो के विचारों और भावनाओं की उपेक्षा न कर सकेंगे। यह भी न होगा कि ऐसे मुसलिम उम्मीदवार चुनाव मे सफल हो जायँ जो हिंदुओ के पिट्ठू कहे जा सकते हो। यही बात मुसलमानो के पिट्ठू कहे जा सकने वाले हिंदू उम्मीदवारों की बाबत भी समझनी चाहिए। परन्तु मौ० मुहम्मद अली का प्रस्ताव स्वीकृत नही हुआ। उसका जिन कारणो से विरोध हुआ था उनमे उसकी एक त्रुटि भी थी। अगर किसी भी हिंदू उम्मीदवार

को मुसलमान वोटरो के या किसी भी मुसलमान उम्मीदवार को हिंदू वोटरो के २० या २५ प्रतिशत वोट न मिले, तो क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर उस प्रस्ताव मे नही था। यह सम्भव है कि उम्मीदवारो की सख्या अधिक होने के कारण किसी भी उम्मीदवार को अपने से भिन्न सम्प्रदाय के वोटरों के उतने प्रतिशत वोट न मिल सके जितने कि समझौते मे निश्चित हुए हो। ऐसी हालत मे क्या होगा ? इस सम्बन्ध मे यह नियम बनाया जा सकता है कि ऐसी हालत मे जिस उम्मीदवार को अपने सम्प्रदाय के वोटरो के सब से अधिक वोट मिले हो वह निर्वाचित हुआ मान लिया जायगा। इसका मतलब यह हुआ कि ऐसी हालत मे कहने को सयुक्त निर्वाचन होते हुए भी वास्तव मे पृथक निर्वाचन हो जायगा। इस प्रकार की प्रणाली के विरोध मे तर्क तो बहुत दिये जा सकते हैं। लेकिन अगर इतना भी हो जाय तो अच्छा ही है। पृथक निर्वाचन के समर्थको को कोई शिकायत भी न होगी और संयुक्त निर्वाचन का, कटे-छँटे रूप मे ही सही, श्रीगणेश तो हो ही जायगा, आगे चल कर अनुकूल परिस्थिति होने पर उसमे सुधार होता रहेगा।

पेशे के आधार पर

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओ मे असेम्बली के लिए तो वह निर्वाचन-प्रणाली ठीक होगी जिसका हमने अभी उल्लेख किया है और जो अशतः संयुक्त और अशतः पृथक निर्वाचन की व्यवस्था है। परतु कौंसिल के निर्वाचन के लिए एक दूसरे प्रकार की व्यवस्था हो सकती है, वह यह कि एक-एक पेशे मे लगे हुए लोग मिल कर अपने-अपने प्रतिनिधियो का निर्वाचन करे। यदि आवश्यकता समझी जाय तो उनमे विभिन्न सम्प्रदाओ के प्रतिनिधियो की संख्या नियत की जा सकती है। एक पेशे के लोगो मे, उनका हिताहित एक होने के कारण, किसी हद

तक एकता की भावना होती है, यद्यपि सम्प्रदाय की दृष्टि से वे सब एक समुदाय के नही होते। इस प्रकार के चुनाव से इस एकता की भावना मे बढती होगी और साम्प्रदायिकता की भावना मे कुछ कमी। यह अच्छी ही बात है। इस प्रणाली मे एक भारी कठिनाई है, वह यह कि किस पेशे के लोगो को कितने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जाय। परन्तु यह ऐसी भारी बाधा नही है कि इसके कारण इस प्रणाली को ही अस्वीकार करना आवश्यक हो। राजनीतिक शक्ति तो वास्तव मे असेम्बली मे रहती है, कौसिल तो बस उस पर कुछ प्रभाव डाल सकती है। अगर कौंसिल का पद परामर्शदाता का पद मान लिया जाय तो उपरोक्त कठिनाई का महत्व अधिक नही रह जायगा।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन

भारत मे कई प्रकार की निर्वाचन-प्रणालियाँ जारी होना बुरी बात न होगी, क्योकि उनकी परीक्षा हो जाने पर ही यह मालूम हो सकेगा कि कहाँ के लिए कौनसी प्रणाली विशेष रूप से उपयुक्त है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन अर्थात् प्रतिनिधियो का स्वय वोटरो के बजाय मध्यस्थो द्वारा चुनाव कई दृष्टियो से बहुत अच्छा है, परतु उसका उपयोग सभी चुनावो के लिए नहीं किया जा सकता। इस प्रणाली मे ये त्रुटियाँ हैं कि जनता और उसके प्रतिनिधियो के बीच बड़ी दूरी पैदा हो जाती है जिसके कारण प्रतिनिधियो मे जनता के प्रति अपनी जिम्मेदारी की भावना पूरी तरह जाग्रत नही हो पाती, जनता चुनाव के समय के वादविवादो से होने वाले लाभ से वचित रह जाती है, स्थानीय चुनावों मे स्थानीय सवालों के बजाय भारतीय और प्रान्तीय प्रश्नो पर बहस होने लगती है, और मध्यस्थों की सख्या कम होने के कारण उनके वोट खरीदे जाने या गैरवाजिबी दबाव से हासिल किये जाने की सम्भावना भी उठ खड़ी होती है। इसलिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन का उपयोग बहुत सोच समझ

कर करना होगा। उसकी अच्छाइयो और बुराइयो पर विचार करके यह मालूम देता है कि यह प्रणाली ताल्लुक़ा या तहसील बोर्डों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के चुनाव के लिए उपयुक्त है। इन बोर्डों के चुनाव के लिए यह क़ायदा बनाया जा सकता है कि बड़े-बड़े गाँव अपना-अपना एक-एक, और छोटे गाँव कई-कई मिल कर एक-एक निर्वाचक चुने। ज़िला या तहसील के प्रति उसके निवासियो की न तो वह भावना होती है जो अपने गाँव या नगर के प्रति होती है और न वह प्रान्त की भाँति किसी बड़ी बात मे स्वाधीन ही हो सकता है। ज़िले और तहसील तो केवल प्रबध की सुविधा के लिए बनाये जाते हैं। अगर इनके बोर्डों का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर हो तो हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक होगा। पूर्णतः या अशतः साम्प्रदायिक आधार पर होने वाले चुनाव के फल-स्वरूप देहात में जो व्यर्थ की उत्तेजना उत्पन्न होती है उसका न होना ही अच्छा होगा।

ग्राम-सभाएँ

बड़े-बड़े गाँवो के लिए अलग-अलग और छोटे-छोटे गाँवो मे कई-कई को मिला कर उनकी ग्राम-सभाएँ होनी चाहिएँ। इस सभाओ की स्थापना के दो उद्देश्य होगे, एक तो यह कि ग्रामीणो के बीच भाईचारे की भावना बढ़े और दूसरा यह कि वे शिक्षा, सफाई, सड़को और खेती की उन्नति में सहायक हो सके। खेती की उन्नति के लिए नये ढंग के औज़ारो के उपयोग के सिवाय इस बात की भी ज़रूरत हो सकती है कि जिन किसानो के खेत छोटे-छोटे हो और पास-पास हो, वे मिल कर खेती करे और फिर पैदावार का बँटवारा कर ले। इन कार्यों में गाँवो के सभी निवासियो का सहयोग रहना चाहिए और प्रान्तीय धारा सभा से बनने वाले क़ानूनो के भीतर रह कर उन्हे अपने अधिकारो का मिल-जुल कर उपयोग करना चाहिए। यदि ग्राम-सभाओ के सदस्य निर्वाचित

करने के बजाय सभी ग्रामनिवासियों को अपने-अपने यहाँ की ग्राम-सभा का सदस्य मान लिया जाय तो कोई बुराई की बात न होगी। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार ब्रिटिश भारत के एक गाँव की औसत आबादी ४१२ है। अगर नाबालिग़ों को छोड दिया जाय तो एक-एक ग्राम-सभा के सदस्यो की सख्या औसतन २०० के लगभग होगी, और इसलिए सभा की मीटिगो मे उपस्थित सदस्यो की सख्या प्रायः १०० से अधिक न होगी। इस प्रकार सभी लोगों के लिए स्वराज्य मे भाग लेना सम्भव होगा और प्राचीन ग्रीस के अनुभव के आधार पर यह आशा की जा सकती है कि वे अपने स्थानीय मामलो मे अच्छी दिलचस्पी लेगे और इस प्रकार उनमे स्वराज्य अथवा लोकतंत्र की योग्यता का विकास होगा। इस प्रकार की व्यवस्था के सम्बन्ध मे दो एतराज़ हो सकते हैं, एक तो यह कि सभा अपने पदाधिकारियों को जल्दी-जल्दी बदल कर उनके काम मे रुकावट पैदा कर सकती है और दूसरा यह कि सब बातो का निर्णय बहुमत से होने के फल-स्वरूप अल्प-सख्यक सम्प्रदाय के लोगो के हितो की हानि हो सकती है। इन दोनो एतराजो को दूर करने के लिए ग्राम-सभाओं के सम्बन्ध मे दो नियम बनाने पडेगे, एक तो यह कि उनकी कमेटियों के हिंदू और मुसलमान सदस्यो की सख्या एक पूर्व-निश्चित अनुपात मे रहेगी और दूसरा यह कि मुखिया और कमेटियों के अध्यक्ष आदि मुख्य पदाधिकारियो के चुनाव और महत्वपूर्ण प्रश्नो के निर्णय के लिए दो-तिहाई बहुमत आवश्यक होगा।

नामजदगी

अन्त मे स्थानीय, प्रान्तीय तथा भारतीय सभी सस्थाओ के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्वाचन-प्रणाली पर बहुत अधिक भार न डाला जाय। लोकतंत्र के सिद्धान्त का अर्थ यह नही है कि सभी

पदो के लिए चुनाव ही हो। जिन पदो पर लोगो को अवैतनिक रूप से काम करना पड़ता है, उनमे से अधिकाश के लिए चेअरमैन को पदाधिकारियो की नामज़दगी या नियुक्ति करने का अधिकार दिया जा सकता है। जिन पदो पर वेतन-भोगी लोग रहते हैं उनकी नियुक्ति के लिए प्रतियोगितापूर्ण परीक्षा का सिद्वान्त स्वीकार किया जा सकता है। हाँ, परीक्षा-फल के आधार पर नियुक्तियाँ होने का सिद्धान्त मान लेने पर भी यह नियम बनाना पड़ेगा कि अल्प-संख्यक समुदायो के उम्मीदवारो को कम से कम इतनी नौकरियाँ मिल जायँगी।

बोर्ड, कमेटियाँ और नौकरियाँ

ऊपर धारा सभाओ के सदस्यो के सम्बन्ध मे साम्प्रदायिक अनुपात के प्रश्न को ले कर हम चार सिद्धान्तो का उल्लेख कर चुके हैं। सरकार के मुख़्तलिफ महकमो के लिए जो सलाहकार बोर्ड या कमेटियाँ बने उनके सम्बन्ध मे भी वे सिद्धान्त मोटे तौर पर ठीक है। यहाँ यह कह देना भी अप्रासगिक न होगा कि सरकारी नौकरियो ही के लिए नहीं, बल्कि डिस्ट्रिक्ट, म्यूनिसिपल और स्थानीय बोर्डों की नौकरियो के लिए भी नियुक्तियाँ पबलिक सर्विस कमीशनो के द्वारा होनी चाहिएँ जो अपने कार्यक्षेत्र मे काफी स्वतत्र हो। और इन नियुक्तियो के लिए जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक पद के लिए अलग-अलग परीक्षा होनी चाहिए और नियुक्तियाँ परीक्षाफल के अनुसार ही होनी चाहिएँ। इससे कई लाभ होगे। एक तो अयोग्य व्यक्तियो को ऐसी नौकरियाँ न मिल सकेगी जिनका काम वे ठीक से नही चला सकते, दूसरे लोगो मे अच्छी नौकरियाँ पा सकने के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी, तीसरे बड़े अफसर व्यर्थ के झंझट और पक्षपात कर सकने की सम्भावना से छुट्टी पा जायँगे, चौथे सार्वजनिक जीवन दूषित होने से बचेगा, पाँचवे साम्प्रदायिक बदगुमानी का एक कारण दूर हो जायगा। जो

ग़ैर-सरकारी सस्थाएँ अपने कर्मचारियों मे सभी सम्प्रदायो के लोगों को स्थान देती हैं, वे अपना हित तो करती ही हैं, साथ ही जनता मे भी पारस्परिक विश्वास तथा सहयोग की भावना का विकास करने मे सहायक होती है।

"स्कॉच वोट"

पार्लमेन्टरी शासन-प्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बाते ऐसी हैं कि ब्रिटेन के विधान मे तो उनका उल्लेख नहीं है, परतु उनका पालन करने की वहाँ परम्परा पड़ गई है। इनमे से कुछ बातों का ब्रिटिश साम्राज्य के स्वराज्य-प्राप्त देशो के विधानों मे उल्लेख भी कर दिया गया है। इसी तरह की एक परम्परा "स्कॉच वोट" कहलाती है। स्कॉटलैंड ब्रिटेन का एक भाग है और दूसरे भागों की तरह ब्रिटिश पार्लमेन्ट के कुछ सदस्यो का चुनाव भी करता है। परतु जब पार्लमेंट मे कोई ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है जिसका सम्बन्ध केवल स्कॉटलैंड से ही हो, तो उसके सम्बन्ध मे होने वाले वादविवाद और वोटिंग मे केवल स्कॉच (यानी स्कॉटलैंडवाले) मेम्बर ही भाग लेते हैं, दूसरे भागो के मेम्बर न बहस-मुबाहसे मे शरीक होते हैं और न किसी ओर वोट देते है। भारत की धारा सभाओ के लिए भी "स्कौच वोट" के सिद्धान्त को मान लेना अच्छा होगा। जब धारा सभा के सामने कोई ऐसा क़ानून पेश हो जिसका केवल एक ही सम्प्रदाय की सस्कृति या रीति-रिवाज से सम्बन्ध हो तो उसका निर्णय करने मे केवल उसी सम्प्रदाय के सदस्य भाग ले। इस तरह की बातो का निर्णय करने के लिए विभिन्न सम्प्रदायो के सदस्यो की स्थायी समितियाँ बनाई जा सकती हैं। अगर अल्प-सख्यक समुदायो को इस बात से एतराज न हो तो इन कमेटियो मे अन्य सम्प्रदायो के कुछ सदस्य भी सम्मिलित किये जा सकते हैं, परतु उनकी सख्या कमेटी के कुल सदस्यों की सख्या के २० प्रतिशत से

अधिक न होनी चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था से जनता मे यह भावना बढेगी कि उनकी सस्कृति मे बाहरी लोग हस्तक्षेप नही कर सकते। अगर किसी बात की बाबत यह प्रश्न उठे कि उसका एक ही सम्प्रदाय की सस्कृति से सम्बन्ध होने की बात ठीक है या ग़लत या अगर यह सवाल उठे कि प्रस्तुत बात देश के दीवानी क़ानून के अदर आती है या किसी सम्प्रदाय विशेष के निजी कानून के अदर, तो इसका फैसला धारा सभा की असेम्बली के प्रेसीडेट समझौता बोर्ड की सलाह ले कर करेगे।

आवश्यक परम्पराएँ

कुछ बाते ऐसी है जिन्हे विधान सम्बन्धी क़ानून मे तो स्थान नहीं दिया जा सकता, लेकिन जिन्हे आपसी समझौते के आधार पर परम्परा के रूप मे स्वीकार कर लेना आवश्यक है। इन परम्पराओ के बन जाने से साम्प्रदायिक सघर्ष की सम्भावना मे भी कमी होगी और शासन मे सुधार होगा। राजनीतिक दलो के बड़े नेताओ को, जिनके लिए "हाई कमाड" शब्द चल निकला है, अपने प्रान्तीय मत्रिमडलो को कुछ और स्वतंत्रता देनी चाहिए, उन पर इतना कड़ा नियत्रण न रखना चाहिए। इस नियत्रण का एक परिणाम यह होता है कि प्रान्तीय धारा सभाओ के अल्प-सख्यक समुदाय अपने प्रान्तो के मत्रिमडलो पर उतना भी प्रभाव नही डाल पाते जितना कि इस नियत्रण के न होने पर डाल सकते थे। दूसरी बात यह है कि धारा सभाओ के अध्यक्षो को अमरीका के बजाय ब्रिटेन की परम्परा का पालन करना चाहिए और अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचित होते ही अपने अब तक के राजनीतिक दलो से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए। उन्हे किसी राजनीतिक या साम्प्रदायिक दल की राजनीति मे किसी प्रकार भाग न लेना चाहिए। उनके लिए इतना ही काफी नही है कि वे अध्यक्ष की कुर्सी

पर बैठ कर सब दलो के सदस्यो के साथ निष्पक्ष हो कर न्याय करेंगे, उनके लिए यह भी आवश्यक है कि किसी को उनकी निष्पक्षता मे सन्देह करने की गुजाइश ही न रहे। इसलिए उन्हें वाद-विवाद के क्षेत्र से बाहर ही रहना चाहिए। तीसरी बात यह है कि प्रधान मत्रियो, मत्रियो और उनके पार्लमेन्टरी सेक्रेटरियो को अपने-अपने सम्प्रदायों के वकील बनने के बजाय विभिन्न सम्प्रदायो के वकीलो के बीच पच या न्यायाधीश बनने की कोशिश करनी चाहिए। चौथी बात यह है कि मत्रि मडलो को यह नियम बना लेना चाहिए कि जो लोग मत्रियो या उनके पार्लमेन्टरी सेक्रेटरियों से कोई प्रार्थना या शिकायत या सिफारिश करना चाहते हों वे उसे सीधे न भेज कर स्थानीय अधिकारियो या सेक्रेटरियट के द्वारा भेजे। पाँचवे, राजनीतिक दलों की, विशेष कर मत्रिमडल वाले राजनीतिक दल की, शाखा सभाओं को स्थानीय अधिकारियो के काम मे दखल देने या रुकावट डालने की कोशिश न करनी चाहिए। इसी प्रकार जब कोई मिनिस्टर सरकारी काम से कही जाने का निश्चय करे तो उसके दौरे का कार्यक्रम तैयार करना उसके राजनीतिक दल की स्थानीय शाखा सभा का नही बल्कि उस ज़िले के हाकिमों का काम होना चाहिए। मन्त्रिमडलो की बातों मे उनके राजनीतिक दल के लोगों को गैरवाजिबी तौर पर दखल देने का मौका मिलने से अधिकारियो की प्रतिष्ठा घटती है और दूसरे राजनीतिक दलों मे नाराज़ी पैदा होती है। छठी बात यह है कि केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा स्थानीय कमेटियो के मेम्बर नामज़द करते समय और आनरेरी मजिस्ट्रेटो आदि की नियुक्ति करते समय मिनिस्टरो को राजनीतिक दलबदी की भावना से मुक्त रहना चाहिए। जिस समय जो भी मत्रिमडल हो उसे कोई ऐसी बात न करनी चाहिए जिससे यह मालूम हो कि वह अपने दल का राज्य कायम करने की कोशिश कर रहा है। सातवे, चुनाव के समय किसी भी उम्मीदवार को, चाहे वह किसी भी राजनीतिक दल का

सदस्य हो, सरकारी हाकिमो या स्थानीय बोर्डों के कर्मचारियो से निर्वाचन सम्बन्धी कार्य में सहायता लेने की कोशिश न करनी चाहिए।

कामकाजी ढंग

इस सम्बन्ध मे केवल एक बात और है, वह यह कि धारा सभाओ में भी और सार्वजनिक जीवन में भी सब बाते कामकाजी ढग से होनी चाहिएँ। आज की धारा सभा के सामने इतना अधिक काम रहता है कि उसकी कार्यवाही शुरू करते समय लबे-लबे गीतो मे समय नष्ट करना उचित नही कहा जा सकता। कम से कम यह बात तो पक्की है कि किसी गीत के कारण, चाहे वह कितना ही स्फूर्तिदायक हो, हिंदू-मुसलिम सहयोग मे रुकावट पैदा होने देना राजनीतिक समझदारी की बात नही है। अगर किसी विद्यालय या अस्पताल या पुस्तकालय या हाल (सभाभवन) का उद्घाटन सस्कार हो और इस अवसर पर एक से अधिक धर्मों के अनुयायी उपस्थित हो, तो ऐसे अवसर पर धार्मिक पूजा-पाठ का समारोह कुछ बेमौक़े मालूम देता है। इससे भी ज़रूरी बात यह है कि सार्वजनिक जीवन को पुराने समय के राजसी ठाट-बाट या धूम-धाम की याद दिलाने वाली बातो से मुक्ति मिलनी चाहिए। एक समय था जब जनता में जाग्रति और उत्साह उत्पन्न करने के लिए इनकी उपयोगिता थी, लेकिन अब वह बात नही रही। अब भी ऐसे विशेष अवसर आ सकते है जब स्पेशल ट्रेन का प्रबन्ध करना, किसी को हार पर हार पहना कर झडो से सजी हुई मोटरकार मे बिठा कर निकालना, घोड़ागाड़ी से घोड़ो को हटा कर उसे आप खीचना, किसी को म्यूनिसिपल बोर्ड की ओर से मानपत्र भेट करना, हो-हल्ला के साथ जुलूस निकालना, या इस तरह की दूसरी बाते उचित हो सकती हैं। लेकिन इस तरह का कोई विशेष अवसर कभी-कभी बरसो मे एकाध बार ही आ सकता है। इस तरह की बातो का जल्द-जल्द आते

रहना लोकतन्त्र के दृष्टिकोण के अनुकूल नही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो इस तरह की बातो का मतलब यह है पहले समय मे स्वेच्छाचारी राजाओं और नवाबों की सभाओं और दरबारो मे जिस प्रकार की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता था उसी का अब सार्वजनिक जीवन मे प्रदर्शन किया जा रहा है। जब जनता के नेताओ के हाथों मे शासन की जिम्मेदारी आने लगी हो तब तो इस तरह की बातो का जारी रहना विशेष रूप से हानिकारक है। इन बातो का मतलब है मिनिस्टरो और दूसरे नेताओ का समय नष्ट करना और उन्हें व्यर्थ परेशान करना, जिसका नतीजा यही हो सकता है कि अपना असली काम करते समय उन्हे वक्त की कमी भी महसूस हो सकती है और थकावट भी। इस तरह की बातो के फल-स्वरूप जनता और उसके नेताओ के बीच एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित होने लगता है जो वाछनीय नही हो सकता। एक ओर जनता मे अपनी बुद्धि और विवेक से काम लेने की आदत घटने लगती है, दूसरी ओर नेताओ मे लोकप्रियता का मोह बढने लगता है और वे यह भूलने लगते हैं कि राजनीतिज्ञ की सब से बडी कसौटी यही है कि जरूरत पड़ने पर वह जनता को अप्रिय लगने वाली बात कहने या करने मे सकोच न करे। नेताओ को बहुत अधिक सम्मान मिलना उनके लिए भी अच्छा नही होता, क्योकि उनके अनजाने ही उनके हृदय मे ऐसी कमजोरी पैदा हो जाने की आशंका रहती है कि जिस आदोलन के फल-स्वरूप उन्हे इतना आदर और महत्व मिल रहा है उसे समाप्त करने मे उन्हे अनिच्छा होने लगे। जिस समय रोम प्रजातंत्र था, उसमे बहुत समय तक यह रीति रही, जो बुरी नहीं थी, कि प्रत्येक नागरिक और प्रत्येक अधिकारी को अपना कर्तव्य किये जाना चाहिए, अगर जनता किसी का धूमधाम के साथ आदर करने की ज़रूरत समझेगी तो इस सम्मान का प्रदर्शन उसके मरने पर शव-सस्कार के समय किया जायगा।

सातवाँ अध्याय

भविष्य की झलक

पृष्ठभूमि

आज भारत के सार्वजनिक जीवन मे जितनी क्रियाशीलता और निष्क्रियता, जितनी सजीवता और निर्जीवता, दिखाई पड़ी रही है उस सब मे हिदू-मुसलिम तनातनी की झलक साफ चमक रही है। भारत की राजनीतिक चेतना इसके भार से दब रही है। इसका जाल इतना फैल गया है कि जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नही बचा है। जिस कठिनाई ने मानव जाति के पाँचवे भाग की उन्नति का मार्ग रोक रक्खा है, उसे समझने और हल कर सकने के लिए सामाजिक जीवन के सिद्धान्तों, संसार के इतिहास की एक हज़ार बरस की घटनाओ और आधुनिक जगत की अन्तर्राष्ट्रीय धाराओ को ध्यान मे रखना होगा। इस समस्या की पृष्ठभूमि छोटी-मोटी नही है। अगर कोई व्यक्ति इस कठिन प्रश्न को यह कह कर उड़ा देना चाहता है कि यह सब हिन्दुओ अथवा मुसलमानो की हठधर्मी का नतीजा है, तो इसका मतलब यही हो सकता है कि उसे मनुष्य के स्वभाव की जानकारी नही है, आनी-जानी और टिकाऊ बातों की परख नही है, वह यह नही जानता कि मनुष्य मे उन्नति और विकास की भावना कितनी प्रबल है, वह जरूरत आने पर अपने विचारो और ढगो मे कितना हेरफेर कर सकता है।

तीसरे का दोष

यह कहना भी कठिन नही है कि हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच जो कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई हैं वे सब किसी तीसरे की पैदा की हुई

हैं और इसलिए उन्हे हल करने की जिम्मेदारी भी उस तीसरे पर ही है। कहना न होगा कि यहाँ तीसरे से मतलब ब्रिटिश सरकार से है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र मे पार्थक्य—जुदाई या भेदभाव—को प्रोत्साहन देने वाली बातो से सरकार का सम्बन्ध थोडा ही होता है और वह भी दूर का। इतिहास पर नजर डालने से मालूम होता है कि समाज मे जो भेदभाव मौजूद होते हैं उनके प्रभाव से सरकारी नीति भी अछूती नही रहती। वह उनकी उपेक्षा नही कर सकती। वह या तो उन्हें दूर करने की कोशिश करती है और या उनसे अपना काम निकालने की। यह भी हो सकता है कि वह सामाजिक ऐक्य अथवा अनैक्य की समस्या पर विशेष ध्यान न दे कर जब जो कठिनाई सामने आवे तब उसी को किसी तरह हल करने की कोशिश करके सतुष्ट हो जाय। ब्रिटेन वालो को तो अपनी इस आदत पर विशेष रूप से गर्व रहा है कि देश-विदेश के या साम्राज्य के, कही के भी मामलो को ले कर वे तर्क-वितर्कों मे अधिक नही उलझते, जब जैसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तब उसका जैसे भी हो सामना करते हैं। पिछले अस्सी वर्षों मे भारत मे समय-समय पर जो सवाल उठे हैं, जो कठिनाइयाँ पेश आई हैं, उन्हें अलग-अलग हल करने की कोशिश मे ब्रिटिश सरकार से ऐसी बाते हो गई हैं जिनसे विभिन्न सम्प्रदायो के लोगो के बीच भेदभाव बने रहने मे, बल्कि उनके बढने मे भी, मदद मिली है। देश से निरक्षरता और निर्धनता को मिटा देने की जैसी चाहिए थी वैसी कोशिश न करना, कुछ बातो मे भेदभाव की नीति बरतना, चुनाव के लिए पृथक निर्वाचन की प्रणाली को स्वीकार करना, और देश के राजनीतिक निपटारे मे बहुत अधिक देर लगाना, ये सब ऐसी ही बाते है। और इनसे भी बुरी बात उसकी यह घोषणा है कि विभिन्न समुदायों के बीच आपसी समझौता होने पर ही देश राजनीतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकेगा। यह राजनीतिक उन्नति के क्षेत्र मे उलटी धारा बहाने की कोशिश करना है।

इस घोषणा का अर्थ यह है कि उन्नति होने देने या न होने देने का फैसला अल्प-संख्यक समुदायों के हाथ में दे दिया गया है।

मुख्य समस्या

इन सब बातों से इसी विचार की पुष्टि होती है कि साम्प्रदायिक समस्या से भी बड़ी एक और समस्या है और हिंदू-मुसलिम समस्या उसका केवल एक पहलू है। वह बड़ी समस्या यह है कि देश में जो शासन प्रणाली चल रही है उसके स्थान पर ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाय जो सामाजिक सामंजस्य के लिए सदा प्रयत्नशील रहे और जो किसी नैतिक ध्येय से प्रेरित हो कर ही शासन-शक्ति का उपयोग करे। जब शासन-शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में आ जायगी, तो उनमें ज़िम्मेदारी की एक नई भावना जाग उठेगी और उन्हें आपस में समझौता करके काम चलाने की ज़रूरत साफ़ तौर पर महसूस होने लगेगी। इससे हिंदू-मुसलिम समस्या को हल करने में मदद मिलेगी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में शासन-शक्ति आ जाने भर से ही साम्प्रदायिक समस्या अपने आप हल हो जायगी।

संगठन

यह सोचना कि हिंदुओं का या मुसलमानों का या दोनों का अलग-अलग संगठन होने से समस्या हल हो जायगी, बड़ी भारी भूल है और इससे हानि भी हो सकती है। आवश्यकता तो देश के सभी लोगों में संगठन या एकता लाने की है। पहले तो इस ज़माने में धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर संगठन हो सकने ही में बड़ा संदेह है। इस प्रकार के संगठन में स्थिरता लाने के लिए जिस धार्मिक आवेश या उत्साह का होना ज़रूरी है, वह इस लौकिकता के युग में असम्भव नहीं तो बहुत

कठिन तो है ही। दूसरे यह भी सम्भव नही है कि हिंदू और मुसलमान अपने झगडो को ले कर फुर्सत से लडते-झगडते रहें और कोई तीसरा इसमे दखल न दे। वे न तो ब्रिटिश सरकार की ही उपेक्षा कर सकते हैं और न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ की ओर से आँखे बद कर सकते हैं। समस्या को युद्ध के द्वारा हल कर सकना इसलिए भी असम्भव है कि देश के प्रत्येक भाग मे सभी जगह हिंदू और मुसलमान दोनों ही साथ-साथ बसे हुए हैं। इसके सिवाय दोनों ही इस प्रकार के घरेलू युद्ध को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए अगर तनातनी बहुत भी बढी तो उसका नतीजा यही हो सकता है कि जहाँ-तहाँ, वह भी विशेष कर नगरो मे, दगे हो जायँ और उनके द्वारा लोगो की उत्तेजना शात हो जाय।

साम्प्रदायिक दगे

अगर दगे अक्सर होने लगते हैं तो इससे सामाजिक व्यवस्था की परम्पराएँ टूटने लगती हैं और लोगों के सद्व्यवहार सम्बन्धी आदर्श ढीले पडने लगते हैं। लोग मनुष्यता की ओर से हट कर पशुता की ओर बढने लगते हैं। समाज मे एक पाशविक निर्दयता जाग उठती है जो लूटमार करने, अग्निकाड रचने, निरपराधो पर छिप कर हमला करने, बूढो, स्त्रियो और मासूम बच्चों पर भी चोट करने मे नहीं झेपती। पशुबल के इस नगे नाच की वजह से अधिकारियो के लिए कडी कार्रवाई करना ज़रूरी हो जाता है और लोकमत भी यही चाहने लगता है। इस तरह दगों की बदौलत स्वराज्य की प्रगति मे रुकावट पडना भी लाज़मी है क्योंकि अगर लोगो के सामने यह सवाल आ जाता है कि उन्हे जीवन-रक्षा की अधिक चिंता है या स्वतत्रता की, तो वे पहला स्थान जीवन-रक्षा को देते हैं। दगो के कारण उत्पन्न होनेवाली सामाजिक अव्यवस्था से देश की बाहरी हमले को रोकने की ताक़त को भी

धक्का लगता है। उनकी बदौलत उन बदमाशो और गुडो की बन आती है जो दूसरे सम्प्रदाय वालो को ही नही अपने सहधर्मियो को भी लूटने-खसोटने मे किसी तरह का पसोपेश नही करते। कभी-कभी उनकी वजह से ऐसी हालत भी पैदा हो जाती है कि लोगो के लिए त्योहार मना सकना या बारात निकाल सकना भी बिना पुलिस की सहायता के असम्भव हो जाता है। वातावरण मे इतनी उत्तेजना भर जाती है कि बिना किसी विशेष कारण के भी मार-पीट और लड़ाई-झगड़े की शुरूआत हो सकती है। जिस समाज मे लोगो को भयभीत और अपनी रक्षा के लिए चिंतित रहना पड़े, उसकी व्यवस्था निम्न कोटि की ही कही जायगी। अगर किसी समय सघर्ष की तीव्रता बढ़ गई तो उसका असर सरकारी कर्मचारियो पर भी पड़ सकता है। शाति की रक्षा का भार जिन कर्मचारियो पर है, अगर वे भी सघर्ष के दूषित वातावरण से प्रभावित हो जायॅ तो गड़बड़ी इतनी बढ सकती है कि उसे अव्यवस्था के बजाय अराजकता कहना ज्यादा ठीक होगा।

निष्क्रियता की निष्फलता

राष्ट्र की समस्या साम्प्रदायिक सगठन से हल नही हो सकती। दूसरी ओर, कुछ न करने, हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाने और हिंदू-मुसलिम समस्या को भाग्य या सयोग के भरोसे छोड़ देने की नीति से भी काम नही चल सकता। इतनी बड़ी और जटिल समस्या स्वय आप से आप हल नही हो सकती। उसे हल करने के लिए कोशिश करनी पड़ेगी, कुछ भ्रान्त धारणाओ और ग़लतफहमियो को दूर करना पड़ेगा।

सफलता का मार्ग

जितना ही इस बात को समझ लिया जायगा कि हिदू-मुसलिम समस्या भारतीय समस्या का केवल एक पहलू है, उतना ही उसे हल

कर सकना आसान हो जायगा। बहुत समय तक पराधीनता, निर्धनता, अशिक्षा, निरक्षरता, अंधविश्वास, आदि के वातावरण मे रहने से देश मे जो मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई है वह जनता को अपने कल्याण के मार्ग पर चल सकने से रोक रही है और यह हिंदू-मुसलिम समस्या उसी मनोवृत्ति का एक परिणाम या पहलू है। लोगों का मानसिक क्षितिज इतना सकीर्ण हो गया है, उनकी इच्छाओ और चाहनाओं का दायरा इतना तग हो गया है, कि वे जिस बुरी हालत मे जिंदगी बिता रहे हैं उससे ऊपर उठने का सवाल उनके दिमाग मे नही उठ पाता। यह बात उनकी समझ मे नही आती कि आपस मे मेल-जोल रख कर, सहयोगपूर्वक प्रयत्न करके वे अपनी भी हालत सुधार सकते हैं और दूसरो की हालत सुधारने मे भी सहायक हो सकते हैं। बजाय इसके उन्हे यह पसद है कि जो थोडा सा पहले से मौजूद है और जो सब के लिए काफी नही है, उसी के लिए आपस मे लड़ते-झगडते रहे।

उन्नति के विभिन्न पहलू

नौकरशाही को बहुत समय से शासन शक्ति का उपभोग करते-करते उससे ऐसा मोह हो गया है कि वह उसे प्रसन्नता से छोड़ देने को तैयार नही है। उसे शासन-शक्ति जनता के हाथो मे सौंप देने के लिए तभी मजबूर किया जा सकता है जब हिंदुओ और मुसलमानों मे एकता हो। लेकिन हिंदू-मुसलिम एकता की उपयोगिता केवल इतनी ही नही है। जनता के जीवन को ऊँचा उठा सकने के लिए भी उसकी आवश्यकता है। जनता को शिक्षित बनाने, सामाजिक न्याय और सास्कृतिक सामजस्य की स्थापना करने, उसके जीवन मे उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न करने, उसकी आर्थिक अवस्था सुधारने, देश को अपनी रक्षा कर सकने योग्य बनाने और शासन-प्रणाली मे समयानुकूल परिवर्तन कराने

के लिए जिस बहुमुखी क्रियाशीलता की आवश्यकता है, हिंदू-मुसलिम एकता उसका एक आवश्यक अंग है।

एक दूसरे से सम्बन्ध

समाज मे बहुत से समुदाय होते हैं, जिनके हितो मे कुछ साम्य भी रहता है और कुछ विरोध भी। उनके आपस के सम्बन्धो के ताने-बाने से ही वह जाल तैयार होता है जिसे सामाजिक सङ्गठन कहते हैं। यदि समाज की किसी एक दिशा मे उन्नति हो जाती है, तो अन्य दिशाओ मे भी उन्नति, सुधार या परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। यदि ऐसा न होगा तो उसके सङ्गठन मे त्रुटि आ जायगी, उसका सतुलन बिगड़ जायगा। इसलिए समाज की उन्नति के लिए प्रयत्न करने वालो का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उन्नति के सभी पहलुओ का, जीवन के सभी क्षेत्रो का, ध्यान रक्खे और उनके सामंजस्य मे कमी न आने दे। सहयोग और सामंजस्य उन्नति के लिए आवश्यक हैं। ज्यो-ज्यो सामाजिक जीवन उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है त्यो-त्यो आपसी विरोध दूर हो कर मिटते रहते है।

विधान-सम्मेलन मे ख़तरा

देश की राजनीतिक समस्या को हल करने के लिए जो प्रस्ताव उपस्थित किये गये है, उनमे एक यह है कि देश की समस्त जनता के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन हो और वह देश के भावी विधान का निर्णय करे। इस प्रस्ताव के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु जब तक हिदुओ और मुसलमानो के बीच इस बात पर समझौता न हो जाय कि वे अपने प्रतिनिधियों को मिल-जुल कर यानी सयुक्त निर्वाचन की प्रणाली से चुनेगे, तब तक विधान सम्मेलन की योजना को ख़तरे से ख़ाली न समझना चाहिए। इस प्रकार के सम्मेलन के

समर्थकों का यह विचार है कि साम्प्रदायिकता का विष अभी मध्य वर्ग के लोगों मे ही फैल पाया है और साधारण जनता उससे बची हुई है। इसलिए वे समझते हैं कि जिस सम्मेलन के प्रतिनिधियों का चुनाव समस्त जनता के द्वारा होगा, वह साम्प्रदायिकता के रोग से बचा रह कर विधान सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार कर सकेगा। परन्तु यदि सम्मेलन के लिए यह बात मान ली गई कि हिंदू और मुसलिम जनता के नुमाइदो का चुनाव अलग-अलग होगा, तो इस बात का बहुत डर है कि उम्मीदवारो के प्रोपेगेंडा की बदौलत साम्प्रदायिकता का विष सारी जनता मे फैल जायगा। यह भी याद रखने की बात है कि विधान सम्मेलन विधान तैयार करने का साधन है, साम्प्रदायिक भेदभावो और मनोमालिन्य को दूर करने का नही।

पच-फैसला

इसलिए यही उपाय बच रहता है कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं के विभिन्न राजनीतिक दलो के प्रतिनिधि और दूसरे राजनीतिक नेता मिल कर एक सर्व-दल सम्मेलन जैसी सभा की आयोजना करे और उसमे देश के भावी विधान सम्बन्धी प्रश्नों को तै करे। परतु यह सम्भव है कि कुछ प्रश्नो का निर्णय इस सम्मेलन के द्वारा न हो सके। ब्रिटेन और भारत के सम्बन्ध के कुछ प्रश्नो का निर्णय कराने मे पच-फैसले का ढग बहुत सहायक हो सकता है। जिन मसलो पर समझौता न हो सके उनका दोनो पक्षों की अनुमति से दिल्ली की बड़ी अदालत (फैडरल कोर्ट) या लदन की प्रिवी कौसिल या हैग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या अन्तर्राष्ट्रीय पचायत सभा की कमेटी से पच-फैसला कराया जा सकता है। हाल मे कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव भी किया है कि भारत के प्रश्न का सयुक्त-राष्ट्र के राष्ट्रपति अथवा मित्र राष्ट्रो के अध्यक्षो से पच-फैसला करा लिया जाय। भारत, ब्रिटेन और सयुक्त-

राष्ट्र के कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्ति यह मत प्रकट कर चुके है कि भारत का मसला अब केवल ब्रिटेन और भारत का ही प्रश्न नही रह गया है बल्कि सारे ससार का प्रश्न बन गया है, यानी ससार की समस्या सतोष-जनक रूप से हल हो सकने के लिए जिन प्रश्नो का निर्णय हो जाना आवश्यक है उनमे एक भारत का प्रश्न भी है, और इसलिए ससार के पुनसंगठन अथवा पुनर्निर्माण के प्रश्न पर विचार करते समय भारत को भुलाना ठीक न होगा।

सार्वजनिक जीवन की मर्यादा

सभी देशों मे और भारत मे भी इस बात की आवश्यकता है कि सार्वजनिक जीवन की मर्यादा की रक्षा की जाय और उसे और भी ऊँचे धरातल पर ले जाने की कोशिश की जाय। चुनाव के समय भेद-भाव बढाने वाली बातो को उठाना अच्छा नही। सार्वजनिक जीवन मे भाग लेने वालो को यह कभी न भूलना चाहिए कि वे ऐसे कार्य मे लगे हुए है जिसमे ज्ञान, चरित्रबल और उदार दृष्टिकोण आवश्यक है। उनके लिए राजनीति का अनुभव एक अच्छी बात है। त्याग की भावना और भी बड़ी बात है, क्योकि वह इस बात का प्रमाण है कि उनकी लोक-सेवा मे स्वार्थ की भावना नही है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि उन्हे इतिहास, समाज-विज्ञान और ससार की राजनीति की जानकारी हो। राजनीतिक प्रश्नो पर समझदारी के साथ अपना मत स्थिर कर सकने के लिए इस जानकारी का होना ज़रूरी है। ज्यो-ज्यो शासन-शक्ति भारतवासियो के हाथ मे आती जायगी और शासन-कार्य का अनुभव रखने वाले भारतीयों की सख्या बढ़ती जायगी, त्यो-त्यो राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ मे ज़िम्मेदारी की भावना अपने आप भी बढ़ती रहेगी। लेकिन इसके साथ ही एक और सुधार की बड़ी आवश्यकता है और वह कोशिश करने

से ही होगा। वह सुधार यह है कि वाद-विवाद मे दोनो पक्ष वाले शिष्टता के नियमो का ध्यान रक्खे और लोगों को उत्तेजित करने या उनकी भावनाओ को प्रभावित करने के बजाय उनकी विवेक-बुद्धि को जाग्रत करने की कोशिश करे। बात को बढा कर कहने या ग़लत ढग से बयान करने से समझौते मे रुकावट पड़ती है और सघर्ष की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। जॉन मॉर्ले ने कहा था कि भारत मे अशिष्टता इतनी हानिकारक हो सकती है कि उसे भारी अपराध कह सकते हैं। उन्होने यह बात अंग्रेज़ों को लक्ष्य करके कही थी, परतु वह सार्वजनिक जीवन मे भाग लेने वाले सभी लोगो की बाबत ठीक है। सन् १६२६-३० और १६३७-४० मे कई बार ऐसा हुआ कि काग्रेस और मुसलिम लीग के बीच समझौते की बातचीत केवल शिष्टता के नियमो का पालन न होने के कारण ही शुरू होते-होते रुक गई। जीवन के अन्य क्षेत्रो की भाँति ही सार्वजनिक जीवन मे भी और शासन-क्षेत्र मे भी विनम्रता का अपना स्थान और महत्व है। विनम्रता सहयोग का द्वार खोल देती है और अधिकारी वर्ग को अधिकार-मत्त हो कर अनुचित मार्ग पर जाने से बचाती है।

अनुकूल बाते

इसमे सदेह नहीं कि हिंदू-मुसलिम समस्या ने भयानक रूप धारण कर लिया है, परंतु यह बात कदापि नही है कि वह हल न हो सकती हो। वह लाइलाज मर्ज़ नहीं है। जब भी वादविवाद की गरमी कम हो जाती है और शातिपूर्वक विचार कर सकना सम्भव होता है, तभी प्रायः इस बात का पता चल जाता है कि मनुष्य-मनुष्य को एक दूसरे से जुदा रखने वाली बातों की बनिस्बत उन्हे एक दूसरे की ओर खीचने वाली बातो मे ज्यादा गहराई है। संसार के ख़ास-ख़ास धर्मों की बहुत सी बाते आपस मे मिलती-जुलती हैं। भारत मे कई

धर्मों के अनुयायी रहते है, परंतु यह बात नही है कि जो लोग एक धर्म के मानने वाले हैं वे सब एक ही जाति के या एक ही भाषा बोलने वाले भी हो। यह भी ज़रूरी नही है कि अगर दो समुदाय धर्म की दृष्टि से एक न हो तो साथ ही वे जाति या भाषा की दृष्टि से भी एक न हो। जो बात जाति या भाषा की बाबत कही गई है वही सस्कृति के सम्बन्ध मे भी लागू है। मध्यकालीन भारत मे साहित्य और कला के क्षेत्र मे जिस एकता का विकास हुआ था, वह भी बिलकुल ख़तम नही हो गई है। विभिन्न सम्प्रदायो के लोग अक्सर आर्थिक हिताहित के सूत्र से भी आपस मे बँधे रहते हैं। एक दूसरे के धर्म को आदर की दृष्टि से देखने की परम्परा भारत मे तीन हज़ार बरस से चली आ रही है। हिंदू और मुसलमानो दोनों ही के धर्मशास्त्रो मे सदाचार के उच्च आदर्शों पर ज़ोर दिया गया है। रोम के इतिहास का कोई भी जानकार इस बात को भुला नही सकता कि सभ्यता का उत्थान ही नही पतन भी सम्भव है, परतु भारतीय सभ्यता इस बात का काफी सबूत दे चुकी है कि उसमे सजीवता की कमी नही है। पिछले सौ बरसो मे उसने बड़ी-बड़ी कठिनाइयो के रहते हुए भी अनेक बातो मे अपने को नये वातावरण के अनुकूल बना लिया है। यह इस बात का प्रमाण है कि उसकी विकास की क्षमता समाप्त नही हो गई है। उसमे विज्ञान को ग्रहण कर लेने, साम्प्रदायिकता से मुक्ति प्राप्त कर लेने और आधुनिक जगत के साथ कंधे मे कधा मिला कर चल सकने की शक्ति मौजूद है। ऐसे अनेक व्यक्तियो को जन्म दे कर जिन्होने निस्स्वार्थ समाज-सेवा की भावना से प्रेरित हो कर बड़े से बड़ा त्याग और बलिदान करने मे संकोच नही किया है, वह सजीवता की सब से कड़ी कसौटी पर खरी उतर चुकी है। यह भावना अधिकाधिक बढ़ रही है कि देश से निरक्षरता और निर्धनता को मिटा देना ज़रूरी है और यह तभी सम्भव है जब कि सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए सहयोगपूर्वक प्रयत्न किया जाय।

ससार की वर्त्तमान परिस्थिति अगर किसी हद तक भारत की उन्नति मे बाधक है तो किसी हद तक उसमे सहायक भी है। उसके कारण भारत-वासियो का ससार छोटे से बडा हो रहा है। भारत को इस समय जिस ख़तरे का सामना करना पड रहा है, उसी का नतीजा यह भी हो सकता है कि भारत के राजनीतिक दलो मे एकता उत्पन्न हो जाय और वे उन झगडे की बातो को भूल जायँ जिनके लिए शाति-काल ही मे फ़ुर्सत हो सकती है। कभी-कभी तो आतरिक सकट भी लोगों मे एक नया नैतिक बल उत्पन्न कर देता है। दो बार—एक बार ईसवी-पूर्व सन् ४९४ मे और दूसरी बार ४४६ मे—रोम का प्रजातत्र अग-भग हो कर टूट-फूट जाने की सम्भावना उपस्थित हुई, परतु दोनों बार रोम के देशभक्तो ने आपसी समझौते के द्वारा पुन. शाति की स्थापना करके उसे बचा लिया।

नैतिक प्रयत्न की आवश्यकता

सस्थाओ के पुनर्संगठन से हिंदू-मुसलिम समस्या को हल करने मे बडी सहायता मिल सकती है, यह तो बिलकुल स्पष्ट है, परतु सस्थाओ से अधिक महत्वपूर्ण उनको अनुप्राणित करने वाली भावना होती है। सामाजिक जीवन का आधार आत्म-नियत्रण है। आपस के सम्बन्ध को ठीक तरह से कायम रखने के लिए मनुष्यो को अपने आप को कुछ नियमो के बधन मे बाँधना पड़ता है और उन नियमो का पालन करने की कोशिश करनी पडती है। आपसी सहानुभूति मे गहराई लाने के लिए, अपने हृदय मे लोकहित की भावना जाग्रत रखने के लिए, और जीवन मे सहयोग तथा सामजस्य को प्रोत्साहन देनेवाली प्रवृत्तियो का बल बढाने के लिए एक नैतिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है। जिन्हे इस बात मे विश्वास है कि मनुष्य का कल्याण पारस्परिक स्नेह और हेलमेल के बढने मे है, उन सबका कर्तव्य है कि वे नित्यप्रति के जीवन मे इस बात का प्रयत्न करते रहे कि दान-पुण्य, शिक्षा-प्रचार, आर्थिक

उन्नति, राजनीति, आदि के क्षेत्रो मे लोगो को मिल-जुल कर कार्य कर सकने का अधिक से अधिक अवसर मिल सके।

भविष्य की झलक

हमारी आँखो के सामने एक नई दुनिया बन रही है। आन्तरिक एकता प्राप्त कर लेने के बाद भारत अपने जन-बल, अपने साधनो तथा अपने दृष्टिकोण की बदौलत इस दुनिया को बनाने मे अपना उचित भाग ले सकता है। रंगमच पर जो घने अधकार का पर्दा पड़ता दिखाई दिया था वह उठ सकता है और उसके उठ जाने पर अनेकता में एकता का अनुभव कराने वाले आध्यात्मिक विकास के दर्शन हो सकते है और विश्व-बधुत्व की स्थापना की आशामयी झलक दिखाई पड़ सकती है। भविष्य के आह्वान को सुनने और सुवर्णमय भविष्य के स्वप्न देखने का नवयुवको को विशेष अधिकार है। उनकी सजीवता, सहनशक्ति और त्यागशीलता के फल-स्वरूप देशभक्ति, उदारता तथा मानवता की परिधि बढ सकती है। यह उनका कार्य है कि वे समाज का व्यापक रूप से पुनर्संगठन तथा पुनर्निर्माण करने मे अपनी शक्ति लगा दे और इस बात का दृढ़ निश्चय कर ले कि वे जीवन के उच्च आदर्शो को कभी न भूलेगे। एवमस्तु।

परिशिष्ट

भारत मे विभिन्न धर्मावलम्बियो की जन-संख्या

सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक़

	जन-संख्या	फी दस हज़ार पीछे अनुपात
हिंदू	२३,९१,९५,०००	६,८२४
जैन	१२,५२,०००	३६
बौद्ध	१,२७,८७,०००	३६५
सिक्ख	४३,३६,०००	१२४
पारसी	१,१०,०००	३
मुसलमान	७,७६,७८,०००	२,२१६
ईसाई	६२,९७,०००	१७९
यहूदी	२४,०००	१
जंगली लोग	८२,८०,०,००	२३६
अन्य धर्मों के मानने वाले या जिनका धर्म दर्ज नहीं किया गया	५, ७१,०००	१६

सन् १९४१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार

(सब संख्याएँ लाखो मे हैं)

	ब्रिटिश भारत मे	देशी राज्यो मे	कुल जोड
हिंदू—			
हरिजन	३,९८	८८	४,८६
अन्य हिंदू	१५,०८	५,६०	२०,६८
मुसलमान	७,९४	१,२३	९,१७
जगली जातियाँ	१,६८	८३	२,५१
सिक्ख	४२	१५	५७
ईसाई	३५	२५	६०
बाक़ी लोग	१२	१०	२२